तर्कसंग्रह

विद्वद्वर अन्नंभट्ट विरचित

मुरादाबाद निवासी सारस्वत
श्रीमन्नारायणशास्त्रि सूनु

वैजनाथशास्त्री

कृत भाषाटीका और सँस्कृत टिप्पणी से
विभूषित

पूर्वोक्त वैजनाथशास्त्री
तथा
रामकृष्ण कम्पनी द्वारा प्रकाशित।

"तन्त्रप्रभाकर प्रेस" मुरादाबाद में मुद्रित।
सन् १९०५

प्रति १०००   मूल्य ।)

Tantrap... abad

॥ श्रीगणेशायनमः ॥

भाषाटीकाटिप्पणीसहितः ॥

तर्कसंग्रहः

निधाय हृदि विश्वेशं विधाय गुरुवन्दनम् ।
बालानांसुखबोधाय क्रियते तर्कसंग्रहः ॥

जगन्नियन्ता श्री शंकर जी को हृदय में ध्यान कर तथा गुरुकी वन्दना कर बालकों के अनायास (सहज) से बोध होने के अर्थ यह तर्कसंग्रह नाम वाला ग्रन्थ (मुझ अन्नंभट्ट से) किया जाता है ॥

द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः सप्तपदार्थाः ॥ १ ॥

---

(१) अभिधेयत्वं ज्ञेयत्वं वा पदार्थसामान्यलक्षणम् ज्ञेयत्वंनाम ज्ञानविषयत्वम् ॥

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, और अभाव यह सात पदार्थ हैं ॥ १ ॥

तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसिनवैव ॥ २ ॥

उन पदार्थों के मध्य में—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, और मन यह नव द्रव्य होते हैं ॥ २ ॥

रूपरसगंधस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वस्नेहशब्दबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माऽधर्मसंस्काराश्चतुर्विंशतिगुणाः ॥ ३ ॥

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार यह चौवीस गुण हैं ॥ ३ ॥

उत्क्षेपणापक्षेपणाकुंचनप्रसारणगमनानि पञ्च कर्माणि ॥ ४ ॥

---

(२) गुणवत्वं द्रव्यसामान्यलक्षणम् कस्मिन्द्रव्येकियन्तोगुणाः सन्तितानाह ॥ श्लोकः—वायोर्नवैकादश तेजसो गुणाः । जलक्षितिप्राणभृतां चतुर्दश ॥ दिक्कालयोः पञ्च षडेव चाम्बरे महेश्वरेऽष्टौ मनसस्तथैवच ॥१॥ द्रव्यत्वजातिमत्वम्वा द्रव्यसमान्यलक्षगम् ॥

(३) द्रव्यकर्मभिन्नत्वेसति जातिमत्वं गुणत्वजातिमत्वम्वा गुणसामान्यलक्षणम् ॥

[४] संयोगाभिन्नत्वेसति संयोगासमवायिकारणत्वं कर्मत्वजातिमत्वश्चक्रात्मकम्वा, कर्मसामान्यलक्षणम् ॥

उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण, और गमन यही पांच प्रकार के कर्म हैं ॥ ४ ॥

परमपरं चेति द्विविधं सामान्यम् ॥ ५ ॥

समान्य (जाति) यह दो प्रकारका है; पर, और अपर ॥ ५ ॥

नित्यद्रव्यवृत्तयो विशेषास्त्वनंता एव ॥ ६ ॥

विशेष यह नित्य द्रव्यों में रहतेहैं; और वोह अनन्तहैं ६ ॥

समवायस्त्वेक एव ॥ ७ ॥

समवाय यह एकही प्रकारका है ॥ ७ ॥

अभावश्चतुर्विधः । प्रागभावः प्रध्वंसाभावोऽत्यंताभावोऽन्योन्याभावश्चेति ॥ ८ ॥

अभाव चार प्रकार का है, वह इस प्रकार यथा—प्रागभाव, प्रध्वन्साभाव, अत्यन्ताभाव, और अन्योन्याभाव ॥ ८ ॥

अथ द्रव्यविशेषलक्षणान्युच्यन्ते ॥

तत्र गंधवती पृथिवी । सा द्विविधा नित्याऽनित्या चेति । नित्या परमाणुरूपा । अनित्या

---

[५] नित्यत्वे सत्यनेंकसमवेतत्वं सामान्यलक्षणम् ॥

[६] निःसामान्यत्वे सति सामान्यभिन्नत्वे सति समवेतत्वंविशेषलक्षणम् अयमस्माद्व्यावृत्त इति व्यावृत्तिबुद्धिमात्रहेतुर्विशेषः ॥

[७] नित्यसम्बन्धत्वं समवायलक्षणम् समवायसिद्धिश्चानेन प्रमाणेन–यथा–गुणक्रियादिविशिष्टबुद्धिर्विशेष्यविशेषणसम्बन्धविषया विशिष्टबुद्धित्वाद्दण्डी पुरुष इति विशिष्टबुद्धिवदित्यनुमानम् ॥

[८] भावभिन्नत्वमभावसामान्यलक्षणम् । इहकपालेघटो भविष्यतीत्युदाहरणं प्रागभावस्य, इहकपालेघटो ध्वस्त इतिप्रतीतिःप्रध्वन्साभावस्य, इहभूतलेघटो नास्तीत्याकारोऽत्यन्ताभावस्य,घटोनपटः इति स्वरूपमन्योन्याभावस्येति ज्ञेयम् ।

कार्यरूपा। सा पुनस्त्रिविधा शरीरेन्द्रियविषयभेदात् शरीर(क)मस्मदादीनाम्। इन्द्रियं गंधग्राहकं घ्राणं नासाग्रवर्ति। विषयो मृत्पाषाणादिः ॥६॥

(इस के उपरान्त नव द्रव्यों का वर्णन करते हैं) उन में जो गन्धवती है वह पृथिवी है। वोह नित्य और अनित्य भेद द्वारा दो प्रकार की है। परमाणु रूप पृथिवी नित्य है। और कार्य रूप अनित्य है। पृथिवी के और भी तीन विभाग हैं जैसे शरीर, इन्द्रिय, और विषय। शरीर—हमारे सदृश मनुष्य आदि में, प्रसिद्ध है। जो गन्धग्राहक है, और हमको जिस से गन्ध का ज्ञान होता है वोह इन्द्रिय है, उसको घ्राण ऐसा कहते हैं, और वोह नासिका के अग्रभाग में रहता है। मृत्तिका पाषाण वृक्षलता इत्यादि वस्तु यह विषय कहाते हैं ॥९॥

शीतस्पर्शवत्य आपः। ताश्च द्विविधा नित्या अनित्याश्चेति। नित्याः परमाणुरूपाः।

---

[९] समवायेन गन्धवत्वं पृथिव्या लक्षणम्, ध्वन्साप्रतियोगित्वे सति प्रागभावायोगित्वे सति गन्धवत्वं नित्यपृथिव्यालक्षणम्, ध्वंसप्रागभावान्यतरप्रतियोगित्वे सति गन्धवत्वं अनित्यपृथिव्यालक्षणम्, चेष्टावदन्त्यावयावित्वे सति गन्धवत्वं पार्थिवदेहस्य लक्षणम्, प्रत्यक्षकरणत्वे सति गन्धवत्वं पार्थिवेन्द्रियस्य लक्षणम्, उपभोगसाधनत्वे सति गन्धवत्वं पार्थिवविषयस्य लक्षणम् (क] पार्थिवशरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजञ्च। तत्र शुक्रशोणितसंनिपातजं योनिजमस्मदादीनां प्रत्यक्षासिद्धम्। शुक्रशोणितसंनिपातं विना धर्मविशेषसहकृतपरमाणुप्रभवमयोनिजं देवर्षिनारदादीनाम् ॥
इन्द्रियसामान्यलक्षणन्त्विदं यथा शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनःसयोगाश्रयत्वमिन्द्रियत्वं बोध्यम् ॥

अनित्याः कार्यरूपाः।ताः पुनस्त्रिविधाः शरीरेंद्रिय विषयभेदात् । शरीरं (अयोनिजं) वरुणलोके । इन्द्रियं रसग्राहकं रसनं जिह्वाग्रवर्ति । विषयः सरित्समुद्रादिः ॥ १० ॥

जिनका शीत (ठंडा) स्पर्श होता है वोह जल कहाते हैं । नित्य और अनित्य भेद से जल दो प्रकार के हैं । जो परमाणु रूपहैं वोह नित्य हैं । और कार्य रूपहैं वोह अनित्यहैं । फिरभी वोह जल तीन प्रकार के हैं, वोह तीन प्रकार यथा- शरीर, इन्द्रिय, और विषय । जलात्मक शरीर वरुणलोक में प्रसिद्ध है, रसका ज्ञान जिस से होताहै वही जलात्मक इन्द्रिय है, उसकी रसन यह संज्ञा है, और वह जिह्वा के अग्रभाग में रहता है । जलात्मक विषय—नदी समुद्र आदि जानना (परन्तु जलात्मक शरीर अयोनिजहै) ॥ १० ॥

उष्णस्पर्शवत्तेजः । तद्द्विविधं नित्यमनित्यं च । नित्यं परमाणुरूपम् । अनित्यंकार्यरूपम् । पुनस्त्रिविधं शरीरेंद्रियविषयभेदात् । शरीर(अयोनिजं) मादित्यलोके प्रसिद्धम् । इन्द्रियं रूपग्राहकं चक्षुः कृष्णताराग्रवर्ति । विषयश्चतुर्विधः । भौमदिव्यौ दर्याकरजभेदात् । भौमंवह्न्यादिकम् अविंधनं-

---

[१०] समवायेन स्नेहवत्वं जलस्यलक्षणम् । नित्यानित्यशरीरेन्द्रियविषयाणां लक्षणानि गन्धवत्वस्थाने स्नेहवत्वं दत्वा पूर्वोक्तान्येव ज्ञेयानि ।

[११] समवायेनोष्णस्पर्शवत्वं तेजसोलक्षणम् । शेषं पृथिवीवदुष्णस्पर्शवत्वं दत्वा बोध्यम् ॥

दिव्यं विद्युदादि। भुक्तस्य परिणामहेतुरौदर्यम् आकरजं सुवर्णादि ॥ ११ ॥

जिसका उष्ण (गर्म) स्पर्श होता है वोह तेज कहाता है, वोह नित्य अनित्य ऐसा दो प्रकार वाला है। परमाणु रूप नित्य होता है और कार्य रूपसे अनित्य होता है। फिर वहतेज तीनप्रकारका है, वोह तीनप्रकार—शरीर, इन्द्रिय, और विषय यही हैं। तैजस शरीर (अयोनिज) सूर्य लोकमें प्रसिद्ध हैं। जो रूपको ग्रहण करता है वोह तैजस इन्द्रिय है। उसकी चक्षु यह संज्ञा है। और जो चक्षु में चलायमान काली पुतली है उसके अग्रभाग में सूक्ष्मरूप से रहता है उसही से हमलोग देखते हैं। तैजस विषय चार प्रकार का है, वोह चार प्रकार यथा—भौम, दिव्य, औदर्य, और आकरज यह हैं। भौम अर्थात् भूमि में होने वाला अग्नि आदि तेज। दिव्य अर्थात् जल के योग से जिसका पोषण होता है वोह आकाश में रहने वाला विजली सूर्य वडवानल आदिहै। भोजनकरनेके उपरान्त जिस के योग से अन्न पकताहै वोह उदरके भीतर रहनेवाला तेज (जठरानल) औदर्य कहाता है। और जो सुवर्ण चांदी आदि खानमें उत्पन्न होते हैं उनको आकरज नामक कहतेहैं ॥ ११ ॥

(5) वायु

रूपरहितस्पर्शवान्वायुः। स द्विविधो नित्योऽनित्यश्च। नित्यः परमाणु(क) रूपः। अनित्यः कार्यरूपः। पुनस्त्रिविधः शरीरेंद्रियविषयभेदात्।

---

१२ समवायेन रूपवदवृत्तिस्पर्शवत्वं वायोर्लक्षणम् शेषं पूर्ववत् रूपवदवृत्ति स्पर्शवत्वं दत्वा बोध्यम् ॥ [क] मूर्तत्वेसति निरवयवः परमाणुः सचातीन्द्रियएव। तदुक्तम्—जालान्तरस्थसूर्यांशौ यत्सूक्ष्मंदृश्यतेरजः। भागस्तस्यच षष्ठोयः परमाणुः स उच्यते ॥

शरीरं(अयोनिजं)वायुलोके । इंद्रियं स्पर्शग्राहकं त्वक् सर्वशरीरवर्ति।विषयो वृक्षादिकंपनहेतुः १२॥

जो रूप रहित होकर स्पर्श वाला होता है वोह वायु है वोह नित्य और अनित्य ऐसा दो प्रकार का है। परमाणु रूप से नित्य होता है और कार्य रूपसे अनित्य होता है । वायु के और भी तीन भेद हैं यथा-शरीर इन्द्रिय और विषय। वाय्वात्मक (अयोनिज) शरीर वायु लोकमेंहै । जिस के योगसे स्पर्शकाज्ञानहोताहै वोह इंद्रियहै। उसको त्वचा (खाल) ऐसी संज्ञा है । त्वगिन्द्रिय सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर रहता है। वृक्ष आदि के हिलाने चलाने में जो वायु कारणी भूत है वोह विषय कहाता है (वोह महावायु आदि जानना) ॥ १२॥

शरीरांतःसंचारी वायुः प्राणः । स चैकोऽप्युपाधिभेदात्प्राणापानादिसंज्ञांलभते ॥ १३ ॥

शरीर के भीतर संचार (चलने फिरनेवाला जो वायु है उसको प्राणकहतेहैं। वोह वायु एक होनेपर भिन्न २ उपाधियों से प्राण अपान इत्यादि संज्ञा को प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

शब्दगुणमाकाशम् । तच्चैकं विभु नित्यं च १४।

शब्द यह जिसका गुण है वोह आकाश है, वोह एक, विभु, और नित्य है ॥ १४ ॥

---

[१३] हृदिप्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः । उदानः कंठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः । अत्रतुक्रियाभेदात्प्राण एव पञ्चसंज्ञांलभते नतु शरीरे पञ्चान्यथा मूर्तानां समानदेशतास्यादितिवोध्यम् ॥

[१४] समवायेन शब्दवत्वमाकाशस्य लक्षणम् सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्वं विभुत्वम् । मूर्तत्वं परिच्छिन्नपरिमाणवत्वं क्रियावत्त्वम्वा ॥

अतीतादिव्यवहारहेतुः कालः। स चैको विभुर्नित्यश्च ॥ १५ ॥

अतीत आदि (भूत भविष्यत् वर्तमान) व्यवहार का हेतु भूत जो होताहै वह काल है। वोह एक, विभु, औरनित्यहै १५

प्राच्यादिव्यवहारहेतुर्दिक्। सा चैका नित्या विभ्वी च ॥ १६ ॥

प्राच्यादिक (पूर्व, पश्चिम दक्षिण उत्तर आदि) व्यवहार का हेतु भूत जो है वह दिशा है। वह दिशा एक, विभु, और नित्य है ॥ १६ ॥

ज्ञानाधिकरणमात्मा। स द्विविधो जीवात्मा परमात्मा च। तत्रेश्वरः सर्वज्ञः परमात्मैक एवसुखदुःखादिरहितः। जीवात्मा प्रतिशरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च ॥ १७ ॥

जो ज्ञानोंका अधिकरण होताहै वह आत्माहै। वह जीवात्मा और परमात्मा इनभेदों से दोप्रकारकाहै। इनमें जो परमात्मा है वही ईश्वरहै, सर्वज्ञहै, और एकहै। जीवात्मातौ प्रत्येक शरीरोंमें भिन्नभिन्नहै और वह विभु तथा नित्य है ॥ १७ ॥

---

[१५] पदार्थमात्राधारत्वं सर्वकार्यनिमित्तकारणत्वञ्चकालस्य लक्षणम्।
[१६] दूरत्वसमीपत्वबुद्धिनियामकत्वं सर्वकार्यनिमित्तकारणञ्च दिशोलक्षणम्
[१७] ज्ञानवत्वमात्मनः सामान्यलक्षणम् समवायेन नित्यज्ञानवत्वं परमात्मनोलक्षणम्, समवायेन सुखादिमत्व जीवात्मनोलक्षणम्,

सुखदुःखाद्युपलब्धिसाधनमिंद्रियं मनः । तच्चप्रत्यात्मनियतत्वादनंतं परमाणुरूपं नित्यं च ॥ १८॥

सुख दुःखादिकी उपलब्धि (साक्षात्कार अर्थात् प्रत्यक्ष होना) का साधनीभूत जो इन्द्रिय है वह मन है । वह प्रत्येक आत्मा में एकएक होकर संबद्ध है इसकारण वह अनन्त है । तथा परमाणुरूप और नित्य है ॥ १८ ॥

इति द्रव्यविशेषलक्षणानि ॥

चक्षुर्मात्रग्राह्यो गुणो रूपम् । तच्च शुक्लनीलपीतरक्तहरितकपिशचित्रभेदात्सप्तविधं । पृथिवीजलतेजोवृत्ति । तत्र पृथिव्यां सप्तविधं । अभास्वरं शुक्लं जले । भास्वरं शुक्लं तेजसि ॥ १९ ॥

चक्षुर्मात्रग्राह्य जो गुण होता है वही रूप है । वहरूप—शुक्ल (सफेद) नील (नीला) पीत (पीला) रक्त (लाल) हरित (हरा) कापिस (कपासी)और चित्र (चितकबरा) इनभेदों से सात प्रकारकाहै । यहरूप—पृथिवी, जल, और तेजमें रहताहै । इन में से—पृथिवीमें तो सातही प्रकारका रहताहै जलमें रूप अभास्वर (नहीं चमकनेवाला) शुक्ल है, और तेजमें रूपभास्वर (चमकीला) शुक्लहै ॥ १९ ॥

रसनग्राह्यो गुणो रसः । स च मधुराम्ललवणकटुकषायतिक्तभेदात्षड्विधः पृथिवीजलवृत्तिः । पृथिव्यां षड्विधः । जले मधुर एव ॥ २० ॥

[१८] स्पर्शरहितत्वे सति क्रियावत्वं सुखादिप्रत्यक्षकरणत्वंम्वा मनसोलक्षणम् ॥

[१९] चक्षुर्मात्रग्राह्यजातिमद्गुणत्वम् रूपस्यलक्षणम् ॥

[२०] रसनेन्द्रियग्राह्यजातिमत्वं रसाणां लक्षणम् ॥

रसनेन्द्रिय से जिसका ग्रहण करा जाता है ऐसा जो गुण वोह रस होता है। उसके—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय, और तिक्त यह छः भेद हैं। वोह पृथिवी और जल इनमें रहता है। पृथ्वी में रहने वाला रस तौ छः ही प्रकार का है। परन्तु जल में रहने वाला रस केवल मधुरही होता है॥ २०॥

घ्राणग्राह्यो गुणो गंधः। स च द्विविधः सुरभिरसुरभिश्च पृथ्वीमात्रवृत्तिः ॥२१॥

घ्राणेन्द्रिय से जिसका ग्रहण होता है ऐसा जो गुण है वोह गन्ध है। वोह सुरभि, और असुरभि ऐसा दो प्रकार का है। और वह पृथिवी मात्र में ही रहता है॥ २१॥

त्वगिंद्रियमात्रग्राह्यो गुणः स्पर्शः। स च त्रिविधः शीतोष्णानुष्णाशीतभेदात् पृथिव्यप्तेजोवायुवृत्तिः। तत्र शीतो जले। उष्णस्तेजसि। अनुष्णाशीतः पृथिवीवाय्वोः॥ २२॥

त्वागिन्द्रिय मात्र से ग्राह्य जो गुणहै वोह स्पर्श है। वोह—शीत, उष्ण, और अनुष्णाशीत, ऐसा तीन प्रकार का है। वोह—पृथिवी, जल, तेज, और वायु इन में रहता है। इनमें से—शीतस्पर्श, तौ जल में रहता है। उष्णस्पर्श, तेज में रहता है। और जो उष्ण भी नहीं और शीत भी नहीं अर्थात् सुहाता २ स्पर्श हो वह पृथिवी और वायु इन दोनों मेंही रहता है॥ २२॥

[२१] घ्राणग्राह्यजातिमत्वं गन्धस्यलक्षणम्॥
[२२] त्वागिन्द्रियमात्रग्राह्यजातिमद्गुणत्वं स्पर्शस्यलक्षणम्॥

रूपादिचतुष्टयं पृथिव्यां पाकजमानित्यं च। अन्यत्रापाकजं नित्यमनित्यं च नित्यगतं नित्यं अनित्यगतमनित्यम्॥ २३॥

रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श, यह चार गुण पृथिवी में पाकज अर्थात् उष्ण के सम्पर्क से उत्पन्न होने वाले और अनित्य हैं। परन्तु इतर अर्थात् पृथिवी से भिन्न द्रव्यों के मध्य में वोह रसादि चतुष्टय अपाकज होते हैं अर्थात् उष्ण के सम्पर्क से उत्पन्न नहीं होते हैं। उन में भी वोह नित्य और अनित्य ही होते हैं। वोह नित्यों में नित्य और अनित्यों में अनित्य होते हैं॥ २३॥

एकत्वादिव्यवहारासाधारणहेतुः संख्या। सा नवद्रव्यवृत्तिः। एकत्वादिपरार्धपर्यन्ता। एकत्वं नित्यमनित्यं च नित्यगतंनित्यं। अनित्य गतमनित्यम्। द्वित्वादिकं तु सर्वत्रानित्यमेव २४॥

---

[२३] द्विविधायामपि पृथिव्यां रूपादयश्चत्वारोऽप्यनित्याः पाकजाश्च। तत्र हि तेजःसंयोगात्पूर्वश्यामादिनिवृत्तौ रक्ताद्युत्पाददर्शनात्। तत्रापि पूर्वरूपादिनाशकरूपाद्यन्तरोत्पादकः पाकः परमाणुष्वेवेति वैशेषिकमतम्। द्व्यणुकाद्यवयविन्यपीति नैयायिकाः। जलतेजोवायुषु च नित्यगता रूपादयो नित्याः, अनित्यगताश्चानित्याः। उद्भूतानुद्भूतभेदेनापि रूपादयश्चत्वारो द्विविधाः। घ्राणरसनचक्षुस्त्वगादावनुद्भूताः। उद्भूतास्तु योग्यपृथिव्याद्यारम्भकपरमाणुकत्र्यणुकादौ। चित्राचित्रभेदेनापि ते द्विविधा इत्यपि केचित्। नीलपीतादिमधुरतिक्तादिसुरभ्यसुरभ्यादिसुकुमारकाठिनाद्यवयवारब्धपटादिषु चित्राः। अन्यत्राचित्राः॥

[२४] गणनव्यवहारासाधारणकारणत्वं संख्याया लक्षणम्॥

प्रत्यक्षखण्डम् ।

एकत्व आदि व्यवहार का जो हेतु है उसको संख्या कहते हैं। संख्या यह गुण सम्पूर्ण नव द्रव्यों में रहने वाला है। एकत्व को आदि लेकर परार्ध पर्यन्त वोह संख्या होती है। उनमें एकत्व—यह नित्य, और अनित्य ऐसा दोही प्रकार का है। नित्य द्रव्यों में एकत्व नित्य है और अनित्य द्रव्यों में एकत्व अनित्य है। परन्तु द्वित्वादिक सम्पूर्ण संख्या सर्वत्र स्थल में अनित्यही होती है ॥ २४ ॥

(७) परिमाण

मानव्यवहारासाधारणं कारणं परिमाणं नवद्रव्यवृत्ति। तच्चतुर्विधम् । अणु महद्दीर्घं ह्रस्वं चेति ॥ २५ ॥

मानव्यवहार का जो असाधारण कारणहै वोह परिमाणहै। वोह नव द्रव्योंमें रहताहै वोह अणु—महत-दीर्घ-और ह्रस्व-ऐसे चार प्रकार का है ॥ २६ ॥

(८) पृथक्त्व

पृथग्व्यवहारासाधारणं कारणं पृथक्त्वं सर्वद्रव्यवृत्ति ॥ २६ ॥

पृथक् व्यवहार का जो असाधारण कारणहै वोह पृथक्त्व है। यह गुण सर्व द्रव्यों में रहता है ॥ २६ ॥

(९) संयोग

संयुक्तव्यवहारासाधारणो हेतुः संयोगः सर्वद्रव्यवृत्तिः ॥ २७ ॥

---

[२५] अणु ह्रस्वपरिमाणे परमाणुद्व्यणुकयोः । महद्दीर्घपरिमाणे त्र्यणुक चतुरणुकादौ ॥

[२६] पृथक्व्यवहारासाधारणकारणत्वं पृथक्त्वस्यलक्षण ॥

[२७] विभागजनककर्मजगुणवृत्तिगुणत्वव्याप्यजातिम संयोगस्य लक्षणम् ॥

सयुक्त व्यवहारका जोअसाधारण कारणहै वह संयोगहै। यह गुण सर्व द्रव्यों में रहता है ॥ २७ ॥

संयोगनाशको गुणो विभागः। सर्वद्रव्य वृत्तिः ॥२८॥

संयोग का नाश जिसके योगसे होता है ऐसा जो गुण वोह विभाग है। यह गुण सर्व द्रव्यों में रहता है ॥ २८ ॥

परापरव्यवहारासाधारणकारणे परत्वापरत्वे पृथिव्यादिचतुष्टयमनोवृत्तिनी ते द्विविधे। दिक्कृतेकालकृतेच। दूरस्थे दिक्कृतं परत्वं समीपस्थे दिक्कृतमपरत्वम्। ज्येष्ठे कालकृतं परत्वम् कनिष्ठे कालकृतमपरत्वम् ॥ २९ ॥

पर और अपर इसप्रकारके व्यवहारों का जो असाधारण कारण है वोह परत्व और अपरत्व कहाता है। यह दोनों गुण पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन, इन द्रव्यो में रहते हैं। परत्व और अपरत्व यह दोनोंही दिक्कृत और कालकृत होते

संयोगनाशकगुणत्वं विभागस्यलक्षणम् ॥ २८ ॥

परव्यवहारासाधारणं कारणं परस्यलक्षणम् । अपरव्यवहारासाधारण कारणमपरस्य लक्षणम् । योयदपेक्षया ज्येष्ठस्तत्र तदवधिकं परत्व कालकृतम्। यो यदपेक्षया कनिष्ठस्तत्र तदवधिकमपरत्वं कालकृतम् । अत्र कालपिण्डसंयोगोऽसमवायी । ज्येष्ठकनिष्ठत्वज्ञानं निमित्तम् । तन्न शश्च तन्नाशानिमित्तम् । एतेऽनित्यद्रव्यएव । यो यदपेक्षया दूरस्थस्तत्र तदवधिकं परत्वं दिक्कृतम् । यो यदपेक्षया संनिहितस्तत्रतदवधिकमपरत्वं दिक्कृतम् । अत्रादिक्पिण्डसंयोगोऽसमवायी । दूरत्वसंनिहितत्वज्ञानं निमित्तम्। तन्नाशश्च तन्नाशानिमित्तम्। एतेमूर्तद्रव्यएव ॥ २९ ॥

है। जो पदार्थ अपने पाससे दूरहै उसमें दिक्कृत परत्व रहताहै और जो अपने पासहीहै उसमें दिक्कृत अपरत्व रहता है जोपुरुष अपनेसे बड़ा है उसमें कालकृत परत्व रहताहै। और जो अपने से छोटा है उस पुरुष में कालकृत अपरत्व रहता है ॥ २९ ॥

आद्यपतनासमवायिकारणं गुरुत्वं पृथिवी जलवृत्ति ॥ ३० ॥

आद्यपतनका जो असमवायि कारण है वोह गुरुत्वहै। यह गुण पृथिवी और जलमें रहता है ॥ ३० ॥

आद्यस्यंदनासमवायिकारणं द्रवत्वं पृथिव्यप्तेजोवृत्ति। तद्द्विविधं सांसिद्धिकं नैमित्तिकं च सांसिद्धिकं जले नैमित्तिकं पृथिवीतेजसोः। पृथिव्यां घृतादावग्निसंयोगजन्यं द्रवत्वम्। तेजसि सुवर्णादौ ॥ ३१ ॥

आद्यस्पन्दनका जो असमवायि कारणहै वोह द्रवत्वहै। यह गुण—पृथिवी, जल, और तेज इनमें रहता है। सांसिद्धिक और नैमित्तिक इनदो भेदों से द्रवत्व दोप्रकार है। सांसिद्धिक द्रवत्व जलमें रहताहै। और नैमित्तिक द्रवत्व पृथिवी और तेजमें रहताहै। अग्नि संयोग के निमित्तसे घृतादिक पदार्थ पिघलकर पतलाहोताहै यही पृथिवी में नैमित्तिक द्रवत्व का उदाहरणहै। और अग्नि संयोगसे सुवर्णादिक द्रवक (पिघल) ता है यह तेजमें नैमित्तिक द्रवत्वका उदाहरण है ॥ ३१ ॥

आद्यपतनासमवायिकारणत्वं गुरुत्वस्य लक्षणम्। ३० ॥

आद्यस्यन्दनासमवायिकारणत्वं द्रवत्वस्य लक्षणम्। अग्निसंयोगानपेक्षं द्रवत्वंसांसिद्धिकम्। अग्निसंयोगापेक्ष्यंद्रवत्वं नैमित्तिकम् ॥ ३१ ॥

चूर्णादिपिंडीभावहेतुर्गुणः स्नेहो जलमात्रवृत्तिः ॥३२॥

चूर्णादिकका पिंड अर्थात् एक गोलासा जिसके योगसे सिमट कर बंधजाता है ऐसा जो गुणहै वही स्नेह है। यह गुण केवल जलके मध्य में ही रहता है ॥ ३२ ॥

श्रोत्रग्राह्यो गुणः शब्दःआकाशमात्रवृत्तिः सद्विविधो ध्वन्यात्मको वर्णात्मकश्चेति।ध्वन्यात्मको भेर्यादौ। वर्णात्मकः संस्कृतभाषादिरूपः३३॥

श्रोत्रसे जिसका ग्रहण करा जाता है ऐसा जो गुण है वोह शब्द है। यह गुण आकाश मात्रमें ही रहता है। वोह ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक ऐसा दोप्रकारका है। ध्वन्यात्मक शब्द वह है जो भेरी मृदंग आदि से उत्पन्न होता है और वर्णात्मक शब्द वह है जो सँस्कृत भाषा आदि में उच्चारण किया जाता है ॥ ३३ ॥

सर्वव्यवहारहेतुर्ज्ञानं बुद्धिः। सा द्विविधा स्मृतिरनुभवश्च संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः। तद्भिन्नं ज्ञानमनुभवः। सद्विविधो यथार्थोऽयथार्थश्च। तद्वतितत्प्रकारकोऽनुभवो यथार्थः। यथा रजत इदं

चूर्णादिपिण्डीभावहेतुत्वे सति गुणत्वं स्नेहस्य लक्षणम्। पिण्डीभावोनाम चूर्णादिधारणकर्षणहेतुभूतो विलक्षणसंयोगः। चणकचूर्णादिष्वयंगः। घृततैलादौस्नेहोपलम्भस्तु जलोपाधिकः ॥ ३२ ॥

श्रोत्रेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षविषयत्वे सति गुणत्वं शब्दस्य लक्षणम् ॥ ३३ ॥

रजतमिति ज्ञानं । सैव प्रमेत्युच्यते । तदभाववति तत्प्रकारकोऽनुभवोऽयथार्थः । यथा शुक्ताविदं र-जतमिति ज्ञानम् । सैवाप्रमेत्युच्यते ॥ ३४ ॥

सर्व व्यवहारकी हेतु भूत ऐसी जो है वोह बुद्धि है । और उसीको ज्ञान ऐसा कहते हैं । बुद्धि के दो भेद हैं; एक स्मृति, और दूसरा अनुभव । सँस्कार मात्र जन्य जो ज्ञान है वोह स्मृति है और उससे भिन्न जो ज्ञान है वह अनुभव है । वोह अनुभव—यथार्थ, और अयथार्थ ऐसे दो प्रकारका है । जो पदार्थ जैसाहो उसी प्रकारका उसका जो ज्ञान होता है वोह यथार्थ अनुभव होता है । उदाहरण यथा-रजत (चांदी) का " यह चांदी है " इसप्रकार का जो ज्ञान होता है वह यथार्थ अनुभव है । और इसीको " प्रमा " ऐसा कहते हैं । जो यथार्थ जिसप्रकारका नहीं है तिस प्रकारका वोह है ऐसा जिस पदार्थ विषयक ज्ञानहोताहै वही अयथार्थ अनुभव है । उदा-हरण—यथा-यथार्थ (असल) में है तो मोतीकी सीप और उसमें अपने आपको " यह चांदीहै " इसप्रकारका जो ज्ञान होताहै वोह अयथार्थ अनुभव है । और इसी को " अप्रमा " ऐसा कहते हैं ॥ ३४ ॥

सम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितप्रकारतासमानाधिकरणगुणत्व व्याप्यजातिमत्वं बुद्धिसामान्यलक्षणम्।संस्कारमात्रजन्यज्ञानत्वं स्मृतेर्लक्षणम् । यथा-सामाणिकर्णिका । सविश्वेश्वर इत्यादि। अत्रपूर्वानुभवः कारणं सँस्कारोव्यापारः । स्मृतिभिन्नसप्रकारकज्ञानत्वमनुभवस्य लक्षणम्।तद्वन्निष्ठविशेष्यतानिरूपिततत्प्रकारताशालिज्ञानत्वं प्रमायालक्षणम् उदाहरणम्—" इदंरजतम् " इति ज्ञानंरज-तत्ववद्विशेष्यतानिरूपितरजतत्वप्रकारकमस्त्येव ॥ तदभाववन्निष्ठविशेष्यतानिरूपिततत्प्रकारताशालिज्ञानत्वमप्रमायालक्षणम् । उदाहरणम्—शुक्तौ " इंदरजतम्—इत्यत्र शुक्तिविशेष्यकं रजतत्वप्रकारं ज्ञानमस्त्येव ॥ ३४ ॥

यथार्थानुभवश्चतुर्विधः। प्रत्यक्षानुमित्युपमितिशाब्दभेदात् तत्करणमपि चतुर्विधं प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दभेदात् ॥ ३५ ॥

यथार्थानुभवके चार भेद हैं । वह इसप्रकार यथा-प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, और शाब्द । इस चारप्रकारकी प्रमाकाकरण भी चार प्रकारकाहै । वह चार प्रकार यह हैं यथा-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और शब्द ॥ ३५ ॥

व्यापारवदसाधारणं कारणं करणम्। अनन्यथासिद्धकार्यनियतपूर्ववृत्ति कारणम् । कार्यं प्रागभावप्रतियोगि ॥ ३६ ॥

यथार्थानुभवः प्रत्यक्षमेव—इतिचार्वाकाः । अनुमितिरपि—इतिकाणादबौद्धाः । उपमितिरपि-इति नैयायिकैकदेशिनः । शाब्दमपि—इति नैयायिकाः । अर्थापत्तिरपि इति प्राभाकराः । अनुपलब्धिरपि-इति भाट्टवेदान्तिनौ सांभवैतिह्यकावपि-इति पौराणिकाः । चेष्टापि-इतितान्त्रिकाः । एतेषांमतेऽस्वरसंविचार्य नैयायिकरीत्या चातुर्विध्यं दर्शितम्—तदुक्तं सूत्रकृतायथा—"प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि" इति ॥ ३५ ॥

द्रव्यान्यत्वे सति तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वं व्यापारस्यलक्षणम् । तज्जन्यत्वेसति दण्डजन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वं दण्डजन्यघटजनकत्वंदण्डादौ चक्रभ्रमणंव्यापारः एव कपालसंयोगतन्तुसंयोगादेरपि कपालतन्तुव्यापारत्वं कपालेतन्तुसंयोगयोः कपालजन्यत्वे तन्तुजन्यत्वे सति तज्जन्यघटपटजनकत्वात् अन्यथासिद्धशून्यकार्यनियतपूर्ववृत्तित्वं कारणत्वम् । कार्यान्नियताऽवश्यंभाविनी पूर्ववृत्तिः पूर्वक्षणवृत्तिर्यस्यतत्तथेत्यर्थः । अव्यवहितपूर्वकालावच्छेदेन कार्यदेशसत्वमितिभावः उदाहरणम्—पटस्य-तन्त्वादिकम् । घटस्य कपालादिकम् । प्रागभावप्रतियोगित्वं कार्यस्यलक्षणम् । कार्योपत्तेः पूर्वं "इह घटो भविष्यति" इतिप्रतीतिर्जायते इतिप्रतीतिविषयोऽभावः प्रागभावः तत्प्रतियोगि घटादिरूपं कार्यम् ॥ ३६ ॥

जो असाधारण कारण है वही करण कहाता है। जो कार्य अन्यथा सिद्धि शून्य नियत पूर्ववृत्ति होता है वही कारण है जो प्रागभावका प्रतियोगी होताहै वहीकार्य है ॥ ३६॥

कारणं त्रिविधं समवाय्यसमवायिनिमित्त भेदात् । यत्समवेतंकार्यमुत्पद्यते तत्समवायि कारणम् । यथा तन्तवः पटस्य पटश्चस्वगतरूपा देः। कार्येण कारणेन वा सहैकस्मिन्नर्थे समवेतत्वे सति कारणमसमवायिकारणम्। यथा तंतुसंयोगः पटस्य । तंतुरूपं पटरूपस्य । तदुभयभिन्नं कारणं निमित्तकारणम् यथा तुरीवेमादिकं पटस्य । तदेत त्त्रिविधकारणमध्ये यदसाधारणं कारणं तदेव-करणम् ॥ ३७॥

कारण तीन प्रकारकाहै । वह इसप्रकारके हैं यथा—समवायि कारण, असमवायिकारण, और निमित्त कारण। जिसमें समवायसम्बन्धसे कार्य उत्पन्न होता है वह समवायि कारण है। उदाहरण—यथा—तन्तु—पटका, और पट—अपनेमें रहने वाले रूपादिका समवायि कारणहोता है। कार्य किम्वा कारणके साथ वर्तमानहोकर एकहस्थिल (जगह) में समवायसम्बन्धसे रह कर जो कारणहोता है वह असमवायि कारण कहाता है। उदाहरण—यथा—तन्तु संयोग यह—पटका और तन्तुरूप—यहपटरूपका असमवायिकारण होताहै ॥ समवायिकारण और असमवायिकारण से भिन्न—ऐसाजो कारण है

वह निमित्त कारण है । उदाहरणयथा—तुरी और वेम इत्यादिक यह पटके निमित्त कारण होते हैं । इनतीन प्रकारके कारणों के मध्य में जो असाधारण कारण है वही-करण है ॥ ३७ ॥

समवायिकारणं प्रकटयति—यस्मिन्समवेतं—यत्समवेतं सत्, समवायेन सम्बद्धंसत् कार्यम्—उत्पद्यते तत्समवायिकारणम् । पूर्वोदाहरणे—तन्तुषु समवायेन सम्बद्धं सत् पटात्मकं कार्यमुत्पद्यते इतितन्तवः पटस्य समवायि कारणमित्यर्थः । द्वितियोदाहरणेतु पटस्यरूपादिकं समवायसम्बन्धेन पटे एव उत्पद्यते इत्यर्थः । अतएव—समवायसम्बन्धेन कार्यवत्वं समवायिकारणस्य लक्षणमित्यर्थः । जन्यभावत्वावच्छिन्नंप्रति तादात्म्यसम्बन्धेन द्रव्यस्यैव कारणत्वात् तन्तवः पटस्येत्युक्तम् ॥ जन्यभावेषु द्रव्यगुणकर्मसु त्रिषु द्रव्यमेव समवायिकारणम्—इत्याशयेन "पटश्चस्वगतरूपादेः" इत्युक्तम् असमवायिकारणं लक्षयति—अत्रासत्तिर्द्विधा कार्यैकार्थैकार्थप्रत्यासत्तिः कारणै कार्यप्रत्यासत्तिश्च । तत्राद्या तन्तुसंयोगे द्वितीयाच तन्तुरूपे बोध्या । प्रथमं यथा—पटात्मककार्येण सहैकस्मिन्नर्थे तन्तौ समवेतं सत् समवाय सम्बन्धेन वर्तमानं सत् पटात्मकं कार्यं प्रति तन्तुसंयोगात्मकं कारणमसम वायिकारणमित्यर्थः । द्वितीयं--यथा—कारणेन सह पटरूपसमवायिकारणी भूतपटेन सह एकस्मिन्नर्थे तन्तुरूपेऽर्थे समवेतं सत् समवायसम्बन्धेन वर्तमानं सत् तन्तुरूपं पटरूपं प्रतिकारणं भवति अतोऽसमवायिकारणं तन्तुरूपं पटरूपस्य । असमवायिकारणं गुणकर्मणोरेव भवति ॥ लक्षणयंथा—समवायिस्वसमवायिसमवेतत्वान्यतरसम्बन्धेन समवायिकारणप्रत्यासन्न-कारणत्वमसमवायिकारणस्य लक्षणम् । समवाय्यसमवायिकारण तातिरिक्तकारणतावत्वं निमित्तकारणत्वम् । निमित्तकारणत्वे द्रव्यादीनां नियमो नास्तितदेतदिति—यस्मात्कारणात् करणत्वघटकं कारणमुपदर्शितं तस्मा देतत् त्रिविधसाधकमध्ये यत्साधकतमं तदेव करणमितिभावः पाणिनीयसूत्र मपि "साधकतमं करणम्" इति बोध्यम् । समाप्तोयं करणप्रपंचः ॥ ॥ १७ ॥

तत्र प्रत्यक्षज्ञानकरणं प्रत्यक्षम्। इंद्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। तद्द्विविधं। निर्विकल्पकम् सविकल्पकं च। तत्र निष्प्रकारकं ज्ञानं निर्विकल्पकम्। यथेदं किंचित्। सप्रकारकं ज्ञानं सविकल्पकम्। यथा डित्थोऽयं ब्राह्मणोऽयं श्यामोऽयमिति ॥३८॥

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और शब्द, ऐसे जो चार ४ प्रमाण पूर्व कह आये हैं उनमेंसे प्रत्यक्ष इस प्रमाणका यह लक्षण है कि जो प्रत्यक्ष ज्ञानका करण होताहै वह प्रत्यक्ष है। इन्द्रिय और अर्थ इनके सन्निकर्ष से उत्पन्न होनेवाला जो ज्ञान है वह प्रत्यक्ष ज्ञान कहाता है। यह प्रत्यक्ष ज्ञान २ प्रकार का है; १ एक निर्विकल्प और २ दूसरा सविकल्प। इनमें जो निष्प्रकारक ज्ञानहै वोह निर्विकल्प होताहै; उदाहरण यथा-"है कुछ" और जो सप्रकारक ज्ञान है वह सविकल्पहै। उदाहरण यथा। यह डित्थहै, यह ब्राह्मणहै, यह श्यामहै, इत्यादि ॥३८॥

प्रत्यक्षज्ञानहेतुरिंद्रियार्थसन्निकर्षः षड्विधः। संयोगः संयुक्तसमवायः संयुक्तसमवेतसमवायः समवायः समवेतसमवायः विशेषणविशेष्यभावश्चेति

प्रत्यक्षज्ञानकरणत्वं प्रत्यक्षस्यलक्षणम्। इन्द्रियार्थेति-इन्द्रियम्—चक्षुरादिकम् अर्थो घटादिः तयोःसन्निकर्षः संयोगादिः तज्जन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षमित्यर्थः। विशेषणविशेष्यसम्बन्धावगाहि प्रत्यक्षं सविकल्पकम्। यथाऽयंघटइत्यादि। विशेषणविशेष्यसम्बन्धानवगाहि प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम्। तच्चघटघटत्व इत्याकारकमतीन्द्रियम् ॥ ३८ ॥

चक्षुषा घटप्रत्यक्षजनने संयोगः सन्निकर्षः । घटरूपप्रत्यक्षजनने संयुक्तसमवायः सन्निकर्षः । चक्षुः संयुक्ते घटेरूपस्य समवायात् । रूपत्वसामान्यप्रत्यक्षे संयुक्तसमवेतसमवायः सन्निकर्षः । चक्षुः संयुक्ते घटे रूपं समवेतं तत्र रूपत्वस्य समवायात् । श्रोत्रेण शब्दसाक्षात्कारे समवायः सन्निकर्षः । कर्णविवरवृत्त्याकाशस्य श्रोत्रत्वाच्छब्दस्याकाशगुणत्वाद् गुणगुणिनोश्च समवायात् । शब्दत्वसाक्षात्कारे समवेतसमवायः सन्निकर्षः। श्रोत्रसमवेते शब्दे शब्दत्वस्य समवायात् । अभावप्रत्यक्षे विशेषणविशेष्यभावः सन्निकर्षः।घटाभाववद्भूतलमित्यत्र चक्षुःसंयुक्ते भूतले घटाभावस्य विशेषणत्वात् । एवं सन्निकर्षषट्कजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षं तत्करणमिंद्रियम् । तस्मादिन्द्रियम् प्रत्यक्षप्रमाणमिति सिद्धम् ॥३६॥

षड्विधसन्निकर्षमध्येप्रथममुदाहरति–द्रव्यचाक्षुषत्वाचमानसेषु संयोगएव सन्निकर्षः । द्रव्यग्रहस्तु संयोगेनैव भवतीतिनियमात् इहघटोऽस्तीति चक्षुरादे घटादिनासंयोगः । एवं मनसा संयोगेनआत्मग्रहः , अहमस्मीति ॥ द्वितीय मुदाहरति–चक्षुषा—द्रव्यसमवेतचाक्षुषरासनघ्राणजस्पार्शनमानसेषु संयुक्त समवाय एवसन्निकर्षः । संयुक्तसमवायेनैव गुणकर्मद्रव्यगतजातिग्रहः ।

प्रत्यक्षखण्डम् ।

प्रत्यक्ष ज्ञानका हेतुभूत ऐसाजो इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष, पहले कह आये हैं वह छः ६ प्रकारका है। वह प्रकार यह है संयोग संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय; समवाय, समवेत, समवाय, और विशेषणविशेष्यभाव । अपनेचक्षु से जहां आपघटका प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है वहां संयोग यह सन्निकर्ष होता है । जहां घटमें रहनेवाले रूपका प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है तहां संयुक्त समवाय यह सन्निकर्ष होता है क्योंकि अपने चक्षुसे घट संयुक्त होता है और उसमें रूप समवाय सम्बन्धसे रहता है। जहां घटरूपमें रूपत्व इसप्रकार की जातिका अपने आपको प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वहां संयुक्त समवेतसमवाय यह सन्निकर्ष होता है। क्योंकि अपने चक्षु से घट संयुक्त होता है, उसमें रूप समवेत है, और उसरूपमें रूपत्व यहजाति समवाय सम्बन्धसे रहतीहै । अपनेश्रोत्रइन्द्रिय से जहां अपनेको शब्दका ज्ञान होता है वहां समवाय यह सन्निकर्ष होता है । क्योंकि अपना श्रोत्रेन्द्रिय अर्थात् अपने कानके विवर (भट्टे) के मध्यमें रहनेवाला आकाशही होताहै और शब्द यह आकाशका गुणहै; और गुण गुणी इनके मध्यमें निश्चय से समवाय सम्बन्ध होताहै । जहां अपने आपको शब्द में रहने वाली शब्दत्व इसजातिका साक्षात्कार होता है वहां समवेतसमवाय सन्निकर्ष होता है। क्योंकि शब्द यह श्रोत्र में समवेत होता है और उस शब्द में शब्दत्व समवाय सम्बन्धसे रहता है। और जहां अपने आपको अभावका प्रत्यक्षकरना है वहां विशेषणविशेष्यभाव यह सन्निकर्ष होता है। घटके अभावसे युक्त यह भूतल है, इसजगह भूतलयह अपने चक्षुसे संयुक्त होता है और उसमें घटभाव यह है विशेषण रहता है। इसप्रकार इन छःसन्निकर्षोंसे उत्पन्न होनेवाले जो ज्ञानहै वही प्रत्यक्ष ज्ञानहै। और इन्द्रिय यहप्रत्यक्ष ज्ञानका कारण है। इसकारण इन्द्रिय यह प्रत्यक्ष प्रमाण अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाका करण है ऐसा सिद्ध होता है ॥ ३९ ॥

इह घटे रूपं चलनं द्रव्यत्वादिकमस्ति अत्रचक्षुषासंयुक्तोघटः तस्मिन् घटेरूपादीनां समवायेन स्थितिः ॥ तृतीयमुदाहरति—रूपत्वात्मकं यत्सामान्यं तत्प्रत्यक्षे इत्यर्थः । तथाचचक्षुषा—द्रव्यसमवेतसमवेत चाक्षुषरासनघ्राणजस्पार्शनमानसेषु संयुक्तसमवेतसमवायसंन्निकर्षः-संयुक्तसमवेतसमवायेन-गुणकर्मजातिग्रहो भवति घटगतरूपे रूपत्वादिक मस्ति घटगतचलने कर्मत्वादिकमस्तीति अत्र चक्षुरादिसंयुक्तो घटस्तत्र समवेतमर्थात् समवायेन सम्बद्धं रूपादि चलनञ्चवर्तते तत्रापि रूपत्वादेः कर्मत्वादेः समवायोऽस्तीति बोध्यम् । चतुर्थमुदाहरति–समवायेन–शब्दग्रहः । इह वीणाशब्दोऽस्तीति । वीचीतरंगन्यायेन कदम्बमुकुलन्यायेन वा शब्दाच्छब्दान्तरोत्पत्तिक्रमेण श्रोत्रदेशे जातस्य श्रोत्रसम्बन्धात्प्रत्यक्षत्वसंभवाद्दूरस्थशब्दस्यापीति ज्ञेयम् ॥ पंचममुदाहरति—समवेतसमवायेन शब्दत्वादि ग्रहः। इह शब्दे शब्दत्वगुणत्वादिकमस्तीति श्रोत्रसमवेतः शब्दस्तत्र समवायेन शब्दत्वमप्यस्तीति बोध्यम् । षष्ठमुदाहरति–विशेषणतया समवायाभावयोर्ग्रहः। अभावप्रत्यक्षे–घटाभाववद्भूतलमित्यत्र भूतलं विशेष्यं घटाभावो विशेषणम् । इह भूतलेघटो नास्तीत्यत्रसम्पन्तस्याविशेषणत्वात् ननु चक्षुरादिना कथमभावस्य ग्रहः—तदुत्तरयति— "येनेन्द्रियेण यद्गृह्यते तेनेन्द्रियेण तद्गतं सामान्यं तत्समवायस्तदभावश्च गृह्यते" इति नैयायिक-नियमः ॥ ३९ ॥

इतिश्रीसारस्वतविप्रवंशोद्भवश्रीमन्नारायण
शास्त्रिसूनुवैद्यनाथशास्त्रिकृतायां
सुलक्षणलक्षितटिप्पणीयुतायां
भाषाटीकायां प्रत्यक्षखण्डः
समाप्तः ॥

अथानुमानखण्डम् ॥

अनुमितिकरणमनुमानम् । परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः । व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः । यथा वन्हिव्याप्यधूमवानयं पर्वत इति ज्ञानं परामर्शः । तज्जन्यं पर्वतो वन्हिमानिति ज्ञानमनुमितिः । यत्र यत्र धूमस्तत्रतत्राग्निरिति साहचर्यनियमोव्याप्तिः । व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वं पक्षधर्मता ॥४०॥

प्रत्यक्षानुमानयोः कार्यकारणभावसंगतिमभिप्रत्य प्रत्यक्षानन्तरमनुमानं निरूपयति । अनुमितौ व्याप्तिज्ञानं करणं, परामर्शो व्यापारः, अनुमितिः फलंकार्यमित्यर्थः । परामर्शस्य व्याप्तिज्ञानजन्यत्वात् व्याप्तिज्ञानजन्यानुमिति जनकत्वाच्च " तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वरूपव्यापारलक्षणमुपपन्नम् । अनुमितिकरणत्वमनुमानस्य लक्षणम् । परामर्शजन्यत्वविशिष्टज्ञानत्वमनुमितेर्लक्षणम् । व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानत्वं परामर्शस्यलक्षणम् । अनुमानञ्च धूमो वह्निव्याप्य इतिज्ञानम् । वह्निव्याप्य धूमवानयमिति तृतीयलिंगपरामर्शो व्यापारः कथमस्य तृतीयत्वं तदुच्यते—महानसादौ दृष्टान्ते वन्हिधूमयोर्भूयः सहचारदर्शनात् व्याप्यत्वेन धूमज्ञानं प्रथमम् । ततः पर्वते धूमं दृष्ट्वा व्याप्यत्वेन तत्स्मरणं द्वितीयम् । ततस्तत्रैव व्याप्यत्वेन धूमस्य परामर्शो वन्हिव्याप्यधूमवानयमित्येवं रूपोजायत इति तृतीयत्वं तस्येति बोध्यम् लिंगज्ञानजन्यं लिंगिज्ञानमनुमितिः । यथा–पर्वतादौ धूमज्ञानानन्तरं पर्वतो वन्हिमानिति ज्ञानम् । व्याप्तिपक्षधर्मतावल्लिंगम् । ननु केयं व्याप्तिरितिचेदुच्यते

अनुमिति का जो करण है वह अनुमान है परामर्श से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह अनुमिति है व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञानको परामर्श कहते हैं। उदाहरण यथा यह पर्वत अग्नि व्याप धूमवान् है, यहही ज्ञान परामर्श है। और इस प्रकारके ज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले "यह पर्वत अग्निमान् है" यह ज्ञान अनुमिति है। जहां २ धूम होता है वहां २ अग्निहोती है इस प्रकारका जो साहचर्य नियम है वहही व्याप्तिहै। और व्याप्यका पर्वतादिमें रहनाही पक्षधर्मताहै ४०

अनुमानं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च। स्वार्थं स्वानुमितिहेतुः। तथाहि स्वयमेव भूयो भूयो दर्श-

---

साहचर्यनियम इति ॥ एतदर्थस्तु 'नियतसाहचर्यं व्याप्तिः' इति । नियतत्वं व्यापकत्वम्। साहचर्यं नाम सामानाधिकरण्यम् तथाच 'धूमव्यापकवन्हिसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः' इत्यर्थः ॥ अत्र धूमव्यापकत्वं नाम धूमसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगितानवच्छेदकधर्मवत्त्वम्। तादृशधर्मो वन्हौ वान्हित्वम्। तथाहि—धूमाधिकरणे ॥ पर्वतमहानसचत्वरादौ वर्तमानोऽभावः घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावो, न तु वन्हित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽभावः । कुतः—पर्वतादौ वन्हेः सत्वात् । एवं सति धूमाधिकरणे पर्वतादौ वर्तमानस्य घटाभावस्य प्रतियोगितावच्छेदकं घटत्वम्, पटाभावस्य प्रतियोगितावच्छेदकं पटत्वम्, अनवच्छेदकं वान्हित्वम् तादृशं वन्हित्वं वन्हौ वर्तते। अतो धूमव्यापकत्वं वन्हौ वर्तते, (तस्याधिकरणे पर्वतादौ वृत्तित्वं धूमे वर्तते) इति। इयमन्वयव्याप्तिः सिद्धान्तानुसारेण ॥

का पुनः पक्षधर्मता। पक्षाश्रयवृत्तित्वं पक्षधर्मता पक्षतानुमित्साविरहविशिष्टसाध्यनिश्चयाभावः। अस्तिचेदं पर्वतादौ पक्षेऽनुमित्साविरहविशिष्टसाध्यनिश्चयस्तत्राभावात्पर्वतादौ साध्यानिश्चये सत्यपि, सत्यां चानुमित्सायां पर्वतो वह्निमान्धूमादित्यनुमानसंभवात्। तत्र पक्षतासंपत्तयेऽनुमित्साविरहविशिष्टत्व साध्यनिश्चयविशेषणम् । तथा चानुमित्साविरहाविशिष्टसाध्यनिश्चस्य तत्राभावात्पक्षता ॥ ४० ॥

नेन यत्र यत्र धूमस्तत्रतत्राग्निरिति महानसादौ व्याप्तिं गृहीत्वा पर्वतसमीपं गत्वा तद्गते चाग्नौ संदिहानः पर्वते धूमं पश्यन् व्याप्तिं स्मरति यत्र धूमस्तत्राग्निरिति। तदनंतरं वन्हिव्याप्यधूमवानयं पर्वत इति ज्ञानमुत्पद्यते। अयमेव लिङ्गपरामर्श इत्युच्यते। तस्मात्पर्वतो वन्हिमानिति ज्ञानमनुमितिरुत्पद्यते। तदेतत्स्वार्थानुमानम्। यत्तु स्वयं धूमादग्निमनुमाय परं प्रति बोधयितुं पञ्चावयववाक्यं प्रयुंक्ते तत्परार्थानुमानम्। यथा पर्वतो वन्हिमान्धूमवत्त्वात्। यो यो धूमवान्स स वन्हिमान्। यथा महानसः। तथा चायम्। तस्मात्तथेति। अनेन प्रतिपादिताल्लिंगात् परोऽप्यग्निं प्रतिपद्यते॥ ४१॥

न्यायाप्रयोज्यानुमानम्—स्वार्थानुमानम्। स्वस्यार्थः प्रयोजनं यस्मात्तत्स्वार्थमितिसमासः। स्वप्रयोजनंच स्वस्यानुमेयप्रतिपत्तिः॥ न्यायप्रयोज्यानुमानं परार्थानुमानम्। न्यायत्वं चोचितानुपूर्वीकप्रतिज्ञादिपञ्चकसमुदायत्वम् यत्पञ्चावयववाक्यं प्रयुज्यते तत्परार्थानुमानम् इतिसम्बन्धः। अवयवत्वंनाम द्रव्यसमवायिकारणत्वम् 'प्रतिज्ञादिषु तदसंभवात्कथंतेऽवयवाःस्युरिति चेत्—अनुमानवाक्यैकदेशत्वात्तु अवयवा, इत्युपचर्यन्ते इतिगृहाण। लिंगपरामर्शप्रयोजकलिंगप्रतिपादकत्वेन अनुमानम् इत्युपचारमात्रत्वाद्वा॥ ४१॥

अनुमान दो प्रकारका है, एक १ स्वार्थ (अपने लिये) और दूसरा २ परार्थ (दूसरे के लिये) । अपने आपको स्वतःही जो अनुमिति का ज्ञान होता है अर्थात् अपने आपको अनुमान कियाजाता है वह स्वार्थानुमान है । उदाहरण यथा—जहां धूम है वहां अग्नि है इस प्रकार जैसे महानस (पाकगृह अर्थात् रसोईखाना) आदि के स्थान में अनेकवार धूम और अग्नि इन दोनों के बीचमें (मध्य में) व्याप्ति होती है ऐसा मनुष्यको स्वतःही गृह होता है । अनन्तर वह किसी पर्वत के समीपमें जाताहै और उस पर्वत पर अग्नि है किंवा नहीं इस प्रकारका उसको सन्देह उत्पन्न होता है । परन्तु इतनेहीमें पर्वत में धूम है यह देखता है । और जहां धूमहैं वहां अग्नि होता है इस व्याप्ति का उसको स्मरण होता है । उसके अनन्तर यह पर्वत वह्नि व्याप्य धूमवान् है ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है । इसकोही लिङ्गपरामर्श कहते हैं । इस लिङ्गपरामर्श सेही पर्वत वह्निमान् है ऐसा अनुमितिरूप ज्ञान उत्पन्न होता है । इस प्रकार का जो अनुमान है वह स्वार्थानुमानहै ॥ परन्तु अपने आपही धूमको देखकर अग्नि विषयके अनुमान करने के अनन्तर दूसरे के समुझादेने के लिये जहां कोई पञ्चावयव युक्त वाक्य का प्रयोग करता है वहां परार्थानुमान होता है । अब उपरोक्त पंचावयव वाक्यों का वर्णन करते हैं यथा—यह पर्वत वह्नि वालादीखता है । क्योंकि यह धूमवान् है । जो २ धूमवान् होताहै वह २ वह्निमान होता है, जैसे महानस । यह पर्वत वैसेही धूमवान है । तहां वह तैसा—अर्थात् वह्निमान मालूम होता है । इस प्रकार के प्रतिपादन करनेपर लिङ्गसे पर्वत में आग्निहै ऐसा दूसरेको जो ज्ञान कराना है यहही परार्थानुमानहै ॥ ४१ ॥

प्रतिज्ञाहेतुदाहरणोपनयानिगमनानि पञ्चा

वयवाः। पर्वतोवन्हिमानिति प्रतिज्ञा। धूमवत्त्वादिति हेतुः। यो यो धूमवानित्युदाहरणम्। तथा चायमित्युपनयः। तस्मात्तथेति निगमनम्॥ ४२॥

प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, और निगमन, यह पांच, ५ अवयव हैं यह पर्वत अग्निवाला है यही प्रतिज्ञा है। क्योंकि वह धूमवाला होनेसे यह हेतु है। जो २ धूमवान् होता है वह वह अग्निमान् होता है जैसे महानस यह उदाहरण है। यह पर्वत वैसही है अर्थात् धूमवान है यही उपनय है। इसलिये वह वैसाही है अर्थात् अग्निमान ऐसा मालूम होताहै यही निगमन है॥ ४२॥

स्वार्थानुमितिपरार्थानुमित्योर्लिङ्गपरामर्श एव करणम्। तस्माल्लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्॥ ४३॥

पक्षे साध्यनिदेशः प्रतिज्ञा। तथाच पक्षतावच्छेदकावच्छिन्न विशेष्यता निरूपित साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नप्रकारताशालिशाब्दबोधजनकवाक्यत्वे सति न्यायावयवत्वंप्रतिज्ञाया लक्षणम्॥ पंचम्यन्तं तृतीयान्तंवा हेतुप्रतिपादकवाक्यं हेत्वावयवः। तथाच हेतुप्रतिपादकविभक्तिमन्न्यायावयवत्वं हेतोर्लक्षणम्॥ व्याप्तिप्रतिपादकदृष्टान्तवचनम्—उदाहरणम्— तथाच—अनुमितिहेतुलिंगपरवाक्यजन्यज्ञानजनकव्याप्यत्वाभिमतवन्निष्ठनियतव्यापकत्वाभिमतसम्बन्धबोधजनकशब्दत्वमुदाहरणस्य लक्षणम्॥ उदाहृतव्याप्तिविशिष्टत्वेन हेतोः पक्षधर्मताप्रतिपादकं वचनमुपनयः। तथाच—अनुमितिकरणतृतीयलिंगपरामर्श जनकावयवत्वमुपनयस्य लक्षणम्॥ अबाधितत्वासत्प्रतिपक्षितत्वतात्पर्यकं वाक्यं निगमनम्—तथाच—अनुमितिहेतुलिंगपरामर्शप्रयोजकशाब्दज्ञानकारणव्याप्तिपक्षधर्मताधीप्रयुक्तसाध्यधीजनकवाक्यत्वं निगमनस्यलक्षणम् ४२॥

स्वार्थानुमिति और परार्थानुमिति इनदोनों काही लिङ्ग परामर्शही करण है इससे यह प्रगट होताहै कि लिङ्ग परामर्श ही अनुमान कहाजाता है ॥ ४३ ॥

लिङ्गं त्रिविधम् । अन्वयव्यतिरेकि केवलान्वयि केवलव्यातिरेकि चेति । अन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिमदन्वयव्यातिरेकि । यथा वन्हौ साध्ये धूमवत्वम् । यत्र धूमस्तत्राग्निर्यथा महानस इत्यन्वयव्याप्तिः । यत्रवन्हिर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति यथा महाह्रद इति व्यतिरेक व्याप्तिः । अन्वयमात्रव्याप्तिकं केवलान्वयि । यथा घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वातपटवत् । अत्र प्रमेयत्वाभिधेयत्वयोर्व्यतिरेकव्याप्तिर्नास्ति । सर्वस्य प्रमेयत्वादाभिधेयत्वाच्च । व्यातिरेकमात्रव्याप्तिकं केवलव्यातिरेकि । यथा पृथिवीतिरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्वात् । यदितरेभ्यो न भिद्यते न तद्गन्धवत् । यथा जलम् । न चेयं तथा । तस्मान्न

ज्ञायमानं लिंगमनुमितिकरणं इति वृद्धोक्तं नयुक्तं इयं "यज्ञशाला वह्निमती अतीतधूमत्वात्" इत्यादौ लिंगाभावेऽप्यनुमितिदर्शनात् इत्याभिप्रायवान् "लिंगपरामर्श एव करणम्" इत्याचष्टे मूलग्रन्थस्तु फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणं करणं इतिमतमवलम्ब्य इति बोध्यम् ॥ ४३ ॥

तथेति। अत्र यद्गन्धवत्तादितरभिन्नमित्यन्वयदृष्टान्तो नास्ति पृथिवीमात्रस्य पक्षत्वात् ॥ ४४ ॥

लिङ्ग तनिप्रकारकाहै; अन्वयव्यतिरेकि, केवलान्वयि और केवलव्यतिरेकि अन्वयसे और व्यतिरेकसे ऐसे दोनोंहीप्रकारसे जिसकी व्याप्ति सम्भवहो वह अन्वयव्यतिरेकि लिंगहोताहै ॥

अन्वयप्रयोज्यव्याप्तिमद् व्यतिरेकप्रयोज्यव्याप्तिमद् अन्वयव्यतिरेकिणोलक्षणम् । "व्याप्यव्यापकभावो हि भावयोर्यादृगिष्यते । तयोरभावयोस्तस्माद्विपरीतःप्रतीयते ॥ अन्वयेसाधनं व्याप्यं साध्यं व्यापकमिष्यते । साध्याभावोन्यथा व्याप्यो व्यापकः साधनात्ययः ॥" इति । यत्रान्वयव्याप्तिर्व्यतिरेकव्याप्तिश्चकथ्यते तदन्वयव्यतिरेकि । यथापर्वतो वह्निमान्धूमादित्यादि । अत्रच पर्वतःपक्षः, तस्यवह्निमत्त्वं साध्यं, धूमादितिहेतुस्तस्मिन् । यत्रयत्र धूमस्तत्रतत्रवह्निः । यथामहानसादौ इत्यन्वयव्याप्तिः । यत्र यत्र वह्न्यभावस्तत्र तत्रधूमाभावः । यथाजलमहाह्रदादौ । इतिव्यतिरेकव्याप्तिश्चास्ति । पूर्वतः क्वचिद्वैलक्षण्यमुच्यते "अन्वयेसाधनं व्याप्यं साध्यं व्यापकमिष्यते । साध्याभावोऽन्यत्र व्याप्यो व्यापकःसाधनात्ययः । व्याप्यस्यवचनं पूर्वं व्यापकस्य ततःपरम् । एवंपरीक्षिताव्याप्तिः स्फुटीभवति तत्वतः ॥" इति व्यतिरेकव्याप्तिशून्यत्वे सति अन्वयव्याप्तिमत्त्वं केवलान्वयित्वम् । यत्रान्वयव्याप्तिरेवास्ति तत्केवलान्वयि यथाघटोऽभिधेयः प्रमेयत्वादिति । अत्रघटः पक्षः तस्याभिधेयत्वं साध्यम् । प्रमेयत्वंहेतुः । तस्मिन्यत्रयत्र प्रमेयत्वं तत्र तत्राभिधेयत्वम् । यथाघट इत्यन्वयव्याप्तिरेवास्ति । नतुयत्रयत्रसाध्याभावस्तत्रतत्र हेत्वभाव इतिव्यतिरेकव्याप्तिः अभिधेयस्य प्रमेयत्वस्यच सर्वत्र सत्वात् साध्याभावादेरेवाप्रसिद्धत्वात् ॥ अन्वयव्याप्तिशून्यत्वे सति व्यतिरेकव्याप्तिमत्वं केवलव्यतिरेकत्वम् । यत्रव्यतिरेकव्याप्तिरेवास्ति तत्केवलव्यतिरेकि । यथा जीववच्छरीरं सात्मकं प्राणादिमत्वादित्यादि । अत्रजीववच्छरीरंपक्षः । तस्यसात्मकत्वं साध्यम् । प्राणादिमत्वं हेतुः । तस्मिन्यत्रयत्र सात्मकत्वाभावस्तत्रतत्र प्राणादिमत्वाभावः यथाघटादौइतिव्यतिरेकव्याप्तिरेवास्ति । ननुयत्रयत्र प्राणादिमत्वंतत्र सात्मकत्वमित्यन्वयव्याप्तिर्दृष्टान्ताभावाज्जीववच्छरीरमात्रस्य पक्षीकरणात् अन्यत्र च हेतुसाध्ययोरेवासत्वात् ॥ ४४ ॥

उदाहरणयथा—वह्निसाध्य होनेमें धूमत्व यह अन्वय व्यतिरेकि लिङ्ग होताहै। जहाँ धूम है वहीं वह्नि है जैसे महानसमें यहही अन्वय व्याप्ति है। और जहाँ वह्नि नहीं है वहाँ धूमभी नहीं है जैसे महाह्रदमें यहही व्यतिरेकि व्याप्ति है जिस जगह अन्वयव्याप्ति मात्र सम्भव होताहै वह केवलान्वयि लिङ्ग होताहै। उदाहरणयथा—घट अभिधेयहै क्योंकि प्रमेय होनेसे, जो प्रमेय होताहै वह अभिधेय होताहै जैसे पट इसजगह प्रमेयत्व अभिधेयत्व इनके मध्यमें व्यतिरेकि व्याप्ति नहींहै। क्योंकि सबही पदार्थ प्रमेय और अभिधेय होताहै। जहाँ व्यतिरेक व्याप्तिमात्र सम्भवहोताहै ऐसा जो लिङ्ग वह केवल व्यतिरेकि कहाता है। उदाहरण यथा—पृथ्वी इतर द्रव्योंसे भिन्न है। क्योंकि उसमें गन्ध है। जो इतर द्रव्यों से भिन्न नहीं उसमें गन्धभी नहीं है, जैसे जल के बीच नहीं। पृथ्वी उसप्रकार की नहीं, अर्थात् गन्धाभाववती नहीं, तो गन्धवती है। इस लिये जो वैसे नहीं है अर्थात् वह इतर भेदाभाववतीभी नहीं है, तो इतर भेदवतीहै। इस उदाहरणमें जो गन्धवत्व है वह इतर भिन्नहै यही अन्वयव्याप्ति के मध्यमें उसका दृष्टान्त नहीं मिलता क्योंकि सब पृथ्वीही को यहाँपर पक्षमान लिया है॥ ४४॥

संदिग्धसाध्यवान्पक्षः। यथा धूमवत्त्वे हेतौ पर्वतः। निश्चितसाध्यवान्सपक्षः। यथा तत्रैव महानसः। निश्चितसाध्याभाववान्विपक्षः। यथा तत्रैव महाह्रदः॥ ४५॥

त्रयाणांमध्ये योऽन्वयव्यतिरेकी स पञ्चरूपोपपन्नएव स्वसाध्यंसाधयति। तानि पंचरूपाणि पक्षधर्मत्वं, सपक्षेसत्वं, विपक्षाद्व्यावृत्तिः, अबाधितविषयत्वम्, असत्प्रतिपक्षत्वञ्चेति। पक्षताश्रयवृत्तित्वं पक्षधर्मत्वम्। निश्चितसाध्यवान्सपक्षः तत्र विद्यमानत्वं सपक्षसत्वम्। निश्चितसाध्याभाववान्विपक्षः—

जिसमें साध्य है किंवा नहीं इसप्रकारकाजो सन्देह होता है वह पक्ष है' उदाहरण यथा—धूम से अग्निका अनुमान करनेपर यहाँ पर्वत यह पक्ष होता है। इसमें साध्य रहता है ऐसे निश्चय होने पर वह सपक्ष होता है, उदाहरण यथा—उस के अनुमान में महानस यह सपक्ष है। और जहां साध्यका अभाव रहता है ऐसा जहां निश्चय होता है वह विपक्ष कहलाता है उदाहरण यथा-इसी अनुमान में महाह्रद यह विपक्ष है ॥ ४५ ॥

सव्यभिचारविरुद्धसत्प्रतिपक्षासिद्धबाधिताः पञ्च हेत्वाभासाः। सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः। सत्रिविधः। साधारणासाधारणानुपसंहारिभेदात्। तत्र साध्याभाववद्वृत्तिः साधारणोऽनैकान्तिकः। यथा पर्वतो वन्हिमान्प्रमेयत्वादिति-प्रमेयत्वस्य वन्ह्यभाववति ह्रदे विद्यमानत्वात्। सर्वसपक्षविपक्षव्यावृत्तोऽसाधारणः। यथा शब्दो नित्यः शब्दत्वादिति। शब्दत्वं सर्वेभ्यो-नित्येभ्योऽनित्येभ्यश्चव्यावृत्तं शब्दमात्रवृत्ति।

तत्राविद्यमानत्वं विपक्षाद्व्यावृत्तिः। प्रमाणान्तरेणाप्रमितसाध्याभावकत्वम-बाधितविषयत्वम्। साध्याभावसाधकहेत्वन्तरशून्यत्वमसत्प्रतिपक्षत्वम्। एतानि पंचरूपाणि वह्निसाधकधूमादावन्वयव्यतिरेकिणि विद्यन्ते। केवलान्वयिनि विपक्षाद्व्यावृत्तिर्नास्ति विपक्षाप्रसिद्धः। केवलव्यतिरेकिणि सपक्षे सत्वंनास्ति सपक्षाप्रसिद्धेः॥ साध्यप्रकारकसंदेहविशेष्यत्वं पक्षत्वम्। साध्यप्रकारकनिश्चयविशेष्यत्वं सपक्षत्वम्। साध्याभावप्रकारकनिश्चयविशेष्यत्वं विपक्षत्वम्॥ ४५॥

अन्वयव्यतिरेकदृष्टान्तरहितोऽनुपसंहारी। यथा-सर्वमनित्यं प्रमेयत्वादिति। अत्र सर्वस्यापि पक्षत्वाद्दृष्टान्तो नास्ति। साध्याभावव्याप्यो हेतुर्विरुद्धः यथा शब्दो नित्यः कृतकत्वादिति। कृतकत्वं हि नित्यत्वाभावेनानित्यत्वेन व्याप्तम्। साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं यस्य विद्यते स सत्प्रतिपक्षः यथा शब्दो नित्यः श्रावणत्वाच्छब्दत्ववदिति। शब्दोऽनित्यः कार्यत्वाद्घटवदिति। असिद्धस्त्रिविधः आश्रयासिद्धः स्वरूपासिद्धो व्याप्यत्वासिद्धश्चेति। आश्रयासिद्धो यथा गगनारविन्दं सुरभ्यरविन्दत्वात। सरोजारविन्दवत्। अत्र गगनारविन्दमाश्रयः। सच नास्त्येव। स्वरूपासिद्धो यथा शब्दो गुणश्चाक्षुषत्वात्। अत्र चाक्षुषत्वं शब्देनास्ति शब्दस्य श्रावणत्वात्। सोपाधिको हेतुर्व्याप्यत्वासिद्धः। साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापक उपाधिः। साध्यसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं साध्यव्यापकत्वम्। साधनवन्निष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं साधानाव्यापकत्वम्।

पर्वतो धूमवान्वन्हिमत्त्वादिति। अत्रार्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः। तथाहि। यत्रधूमस्तत्रार्द्रेन्धनसंयोग इति साध्यव्यापकता। यत्र वन्हिस्तत्रार्द्रेंधन संयोगो नास्ति। अयोगोलक आर्द्रेंधनसंयोगाभावादितिसाधनाव्यापकता। एवं साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वादार्द्रेंधनसंयोग-उपाधिः। सोपाधिकत्वाद्वन्हिमत्वं व्याप्यत्वासिद्धम्॥ यस्य साध्याभावः प्रमाणांतरेण निश्चितः सबाधितः यथा वन्हिरनुष्णो द्रव्यत्वादिति अत्रानुष्णत्वंसाध्यं तदभाव उष्णत्वं स्पार्शन प्रत्यक्षेण गृह्यते इति बाधितत्वम् ४६॥

अथ हेत्वाभासत्वज्ञानस्यापि परोक्तहेतौ दोषोद्भावनद्वारा सद्धेतुत्वज्ञानोपयोगितया हेत्वाभासानां सामान्यविशेषलक्षणान्युच्यंते। अनुमिति तत्करणान्यतरप्रतिबन्धकयथार्थज्ञानविषयत्वं हेत्वाभाससामान्यलक्षणम्। साध्यसाधनग्रहाविरोधित्वे सति व्याप्तित्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितहेतुतावच्छेदकावच्छिन्नविशेष्यताशालिबुद्धित्वावच्छिन्नप्रतिबध्यतानिरूपित प्रतिबन्धकताशालियथार्थज्ञानविषयत्वं व्यभिचारसामान्य लक्षणम्, विपक्षवृत्तित्वं साधारणत्वम्। सर्वसपक्षव्यावृत्तित्वमसाधारणत्वम्। अत्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यादिकत्वम् अनुपसंहारिणोलक्षणम्। साधारणज्ञानञ्च विपक्षवृत्तित्वरूपव्यभिचारविषयकत्वात् व्यभिचारज्ञानविधयाव्याप्तिग्रहे प्रतिबन्धकम् व्यभिचार ज्ञानेसति व्याप्तिग्रहानुदयस्य सुप्रसिद्धत्वात्।

सव्यभिचार विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध, और बाधित यह पांच हेत्वाभासहैं। इनमें जो अनैकान्तिकहै वही सव्य भिचार है। वह साधारण असाधारण और अनुपसंहारि ऐसा तीन प्रकारका है। इनतीनों में साध्यका अभाव जहां रहे वहां रहने वाला जो हेतु है वह साधारण है। उदाहरण यथा—पर्वत वह्निमान है क्योंकि उसमें प्रमेयत्व है इस अनुमान में प्रमेयत्व यह हेतु साधारण है कारणकि इस अनुमान में प्रमेयत्व यह हेतु साध्यजो अग्नि उसका अभाव जो ह्रद उसमेभी रहता है अतएव ह्रद यह जानने के योग्य ऐसा पदार्थ (प्रमेय) हैही सर्व, सपक्ष, और विपक्षसे व्यावृत्तहोकर जो हेतु रहता है उस को असाधारण जानना। उदाहरण यथा—शब्द नित्य है वह शब्दत्व से रहता है इस जगह नित्यत्व यह साध्य है। इस लिये सर्व नित्यवस्तु सपक्ष होता है और सर्व अनित्यवस्तु विपक्ष होता है परन्तु शब्दत्व यह हेतु ऐसा है कि वह नित्य किंवा अनित्य इन दोनोंमें से किसी जगहभी नही रहता किन्तु केवल शब्द के स्थान में ही रहता है इसलिये सर्व, सपक्ष, और विपक्ष इनसे व्यावृत्त होनेवाला शब्दत्व यह हेतु असाधारण है। जिसका अन्वय व्याप्तमें और व्यतिरेकव्याप्तिमें दृष्टान्त नही देसके ऐसा जो हेतु है वह अनुपसंहारि है ऐसा जानना। उदाहरण यथा—सर्व अनित्य है इसी से वह प्रमेय हैं यहां सर्व यह यावत् सम्पूर्ण वस्तुओं में अन्तर्भाव होने के कारण से दृष्टान्त देनेमें कोई और नही बाकीरहता इस लिये यहहेतु अनुपसंहारि है ऐसा जानना। जो हेतु साध्याभावव्याप्तहोताहै यह विरुद्ध है। उदाहरण यथा— शब्द नित्य है कारणकि वह कृतक (कृत्रिम) है यहां नित्यत्व यह साध्यहै और इसका अभाव जो अनित्यत्व उसमें यह कृतकत्व हेतु व्याप्त है क्योंकि जहां २ कृतकत्व है वहां २ अनित्यत्व है ऐसा देखा जाता है। जो कृतक है वह नित्य

है ऐसा किसी प्रकार नहीं सिद्ध हो सक्ता इस लिये यह विरुद्ध नामक हेत्वाभास है ऐसा जानना । जिस हेतु के साध्य के अभाव का साधक ऐसा दूसरा हेतु कोई हो वह सत्प्रतिपक्ष होता है । उदाहरण यथा—शब्दानित्य है क्योंकि वह श्रावण (श्रवणेन्द्रियसे ग्रहण करने योग्य है) जैसे शब्दत्व। और शब्द यह अनित्य है क्योंकि वह कार्य (उत्पन्न होनेमें कृतक) है जैसा घट इनदोनों अनुमानों के मध्यमें पहले अनुमानमें श्रावणत्व इस हेतुसे नित्यत्व यह साध्य सिद्ध कराजाता है। परन्तु इस अनुमानमें नित्यत्व इस साध्यका अभाव अर्थात् अनित्यत्व यह सिद्ध करने मे कार्यत्व जो यह हेतु दूसरे अनुमान मे दिया है इस कारण श्रावणत्व यह सत्प्रतिपक्षहेतु होता है। असिद्ध तीन प्रकारका है वह प्रकार यह हैं, आश्रयासिद्धि स्वरूपासिद्ध और व्याप्यत्वासिद्ध इनमें आश्रयासिद्धिका उदाहरण देते हैं यथा-गगनारविन्द (आकाश का कमल) सुरभि है क्योंकि उसमें अरविन्दत्व यह धर्म रहता है। जहां अरविन्दत्व है वहां सुरभित्व है जैसे सरोवामें उत्पन्न होनेवाले कमल में इस जगह गगनारविन्द यह आश्रय है इसमें सुरभित्व यह रहता है ऐसा सिद्ध करना है । परन्तु वह आश्रय जड़ मूलसे ही प्रसिद्ध नहीं कारण कि अरविन्द (कमल) यहतो जो प्रसिद्ध है परन्तु आकाश में कमल प्रसिद्ध नहीं है इस कारण गगनारविन्द यह आश्रयही नहीं इसलिये आश्रयासिद्ध यह हेत्वाभास होता है ऐसा जानना। स्वरूपासिद्धि के उदाहरण में प्रमाण यथा-शब्द नित्य है क्योंकि वह चाक्षुष (चक्षुइन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य) है इस जगह चाक्षुषत्व यह हेतु स्वरूपासिद्ध है क्योंकि शब्द इस पक्षके स्थान में चाक्षुषत्व इस हेतुका स्वरूपतःही अभावहै। कारण कि शब्द यह चक्षुरिन्द्रिय ग्राह्य नहीं किन्तु श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य है। जो हेतु सोपाधिक होताहै वह व्याप्यत्वासिद्ध है। साध्यव्यापक होकर जो साधनाव्यापक होता है वही उपाधि है।

साध्यव्यापकत्व का अर्थ यह है यथा—साध्यसमानाधि करणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्व । और साधनाव्यापकत्व इस का अर्थ । साधनवन्निष्ठात्यंताभावप्रतियोगित्व होता है । वह पर्वत धूमवान् है क्योंकि वह वह्निमान् होने से इस जगह आर्द्रेन्धन संयोग यह उपाधि है क्योंकि आर्द्रेधन संयोगसाध्य व्यापक होकर साधनाव्यापक है जहां धूम है वहां आर्द्रेन्धन संयोग है इस लिये वह साध्यव्यापक है । और जहां वह्नि है वहां आर्द्रेन्धन संयोग नहीं है उदाहरण यथा-तपे हुये लोहे के गोले में वह्नि है परन्तु आर्द्रेन्धन संयोग नहीं है इस कारण आर्द्रेन्धन संयोग यह साधनाव्यापक है ऐसा सिद्ध होता है।

साक्षादनुमितिप्रतिबन्धकम् । कथमितिचेत् इत्थम्—शब्दत्वं हि नान्वयीहेतुः दृष्टान्ताभावात् । किन्तुव्यतिरेकी । तथाचयोयद्वतो व्यावृत्तः सस्वाश्रयेतदभावं साधयति । यथाधूमोवह्न्यभाववतो जलहृदादेर्व्यावृत्तः स्वाश्रये पर्वतादौ वह्न्यभावाभावं साधयति ।। तथा शब्दत्वं नित्यत्ववतो गगनादेः सपक्षादव्यावृत्तमिति स्वाश्रये शब्दे नित्यत्वाभावमनित्यत्वं साधयेत् । एवं नित्यत्वाभाववतो घटादेर्विपक्षाद् व्यावृत्तमिति स्वाश्रये शब्दे नित्यत्वाभावाभावमं नित्यत्वमपि साधयेत् । नचैकत्रशब्दे नित्यत्वानित्यत्वयोः संभवः तयोर्विरोधात् । तस्माच्छब्दत्वेऽसाधारणत्वज्ञाने सति न साध्यानुमितिरिति ॥ अनुपसंहारिज्ञानमपि— व्याप्तिग्रहे प्रतिबन्धकम्, सर्वस्य पक्षत्वे व्याप्तिग्राहक सहचारदर्शनस्थलाभावेन सहचारानिश्चयाभावे सति व्याप्तेरनिश्चयात् । साध्यव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वं विरुद्धस्य लक्षणम् । एतज्ज्ञानञ्च साक्षादनुमिति प्रतिबन्धकम् । अयंगौरश्वत्वादितिविरुद्धस्योदाहरणे यत्रयत्राश्वत्वं तत्रतत्र गोत्वाभाव इतिसाध्याभावव्याप्तेः सत्वादश्वत्वंहेतुर्विरुद्धः । अत्रगोत्वाभाव व्याप्ताश्वत्ववत्ताज्ञाने सतिगोत्वनिश्चयासंभवात् इति । पक्षसाध्यग्रहाविरोधित्वे सति साध्याभावत्वावच्छिन्नविधेयतानिरूपित पक्षतावच्छेदकावच्छिन्नोद्देश्यताशाल्यनुमितित्वावच्छिन्नजन्यता निरूपितिजनकताशालियथार्थज्ञान विषयत्वम् सत्प्रतिपक्षस्य लक्षणम् ॥ यस्य हेतोःसाध्याभावसाधकं साध्याभावस्यानुमापकं हेत्वन्तरं प्रतिपक्षः हेतुर्विद्यते स हेतुः सत्प्रतिपक्षः इत्यर्थः । अयमेव ‘प्रकरणसमः ” इत्युच्यते । अत्र द्वयोरपि हेत्वोः परस्परसाध्याभावसाधकत्वान्मिथः सत्प्रतिपक्षत्वम् । एतज्ज्ञानञ्च साक्षानुमितिप्रतिबन्धकम् । मूलोक्ताद्विविध

इस रीति सें आर्द्रेन्धन संयोग यह साध्यव्यापक और साधनाव्यापक होकर उपाधि है ऐसा सिद्धहोता है और यहां वह्निमत्व यह हेतु सोपाधिक अर्थात् आर्द्रेन्धन संयोग इस उपाधिके साथ होकर व्याप्यत्वासिद्ध है ऐसा जानना । जिस के साध्य का अभाव दूसरे प्रमाण से निश्चित होताहै वह वाधित है उदाहरण यथा—वह्नि अनुष्ण है क्योंकि वह द्रव्य है इस जगह अनुष्णत्व यह साध्य है इसका अभाव जो उष्णत्व है वह वह्नि में रहताहै इसका ज्ञान स्पर्शजन्य प्रत्यक्षसे अपने आप होताही है इस लिये द्रव्यत्व यह हेतु वाधित है ४६ ॥

परामर्शे सत्येकस्मादप्यनुमितेरभावात् परस्परप्रतिवन्धात् । आश्रयासिद्धाद्यन्यतमत्वमसिद्धिसामान्यलक्षणम् ॥ प्रकृतपक्षग्रहाविरोधित्वमाश्रयासिद्धे लक्षणम् । प्रकृतपक्षसाधनग्रहाविरोधित्वे सति हेतुप्रकारकपक्षविशेष्यकज्ञानत्वावच्छिन्नप्रतिवध्यतानिरूपितप्रतिवन्धकताशालियथार्थज्ञानविषयत्वम् । स्वरूपासिद्धे लक्षणम् । साध्यसम्वन्धितावच्छेदकत्वप्रकारकहेतुतावच्छेदकविशेष्यकग्रहत्वावच्छिन्नप्रतिवध्यतानिरूपितप्रतिवन्धकताशालियथार्थ ज्ञानविषयत्वं व्याप्यत्वासिद्धे लक्षणम् मूलोक्ताश्रयासिद्धोक्तोदाहरणे चारविन्दे पक्षे गगनीयत्वं पक्षतावच्छेदकम् । नास्तीत्यरविन्दत्वं हेतुराश्रयासिद्धः । एतज्ज्ञानं परामर्शप्रतिवन्धकम् । अरविन्देगगनीयत्वं नास्तीतिज्ञाने सुरभित्वव्याप्यारविन्दत्ववद्गगनारविन्दमितिपरामर्शसंभवात् । एतस्यारविन्दे गगनीयत्वसम्वन्धावगाहित्वात् ॥ स्वरूपासिद्धस्य ज्ञानमपिपरामर्शप्रतिवन्धकम् । व्याप्यत्वासिद्धमपिपरामर्शप्रतिवन्धकम् । सोपाधिकः । अथकोयमुपाधिरितिचेदुच्यते ' साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापक उपाधिः । यथाधूमवान् अग्नेरित्यार्द्रेन्धनम् । भवति च तत्साध्यस्य धूमस्य व्यापकम् । यत्रयत्रधूमस्तत्र तत्रार्द्रेन्धनमितिसत्वात् । भवति च साधनस्य अग्नेरव्यापकं यत्राग्निस्तत्रार्द्रेन्धनमित्यसत्वात् । तप्तायः पिण्डेऽग्निसत्वेऽप्यार्द्रेन्धनाभावात् । उपाधिस्तुव्यभिचारज्ञानद्वाराव्याप्तिज्ञानप्रतिवन्धकः । अनुमानप्रकारश्चयथाअग्निर्धूमव्यभिचारी धूमव्यापकार्द्रेन्धनसंयोगव्यभिचारित्वात् घटत्वादिवत् । योयत्साध्यव्यापकव्यभिचारी स सर्वोऽपि साध्यव्यभिचारी एवं प्रकृतानुमानहेतुभूते पक्षसाध्यव्याभिचारोत्थापकतया दूषकत्वमुपाधेः । प्रकृतपक्षसाध्यग्रहाविरोधित्वे सति पक्षतावच्छेदकावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितसाध्यतावच्छेदक

उपमितिकरणमुपमानम् । संज्ञासंज्ञिसम्वन्धज्ञानमुपमितिः । तत्करणंसादृश्यज्ञानम् । अतिदेशवाक्यार्थस्मरणमवान्तरव्यापारः । तथाहि । गवयशब्दवाच्यमजानन्कुतश्चिदारण्यकपुरुषाद्गोसदृशो गवय इति श्रुत्वा वनं गतो वाक्यार्थं

सम्वन्धावच्छिन्नसाध्यतावच्छेदकावच्छिन्नप्रकारताशाल्यनुमितित्वावच्छिन्नप्रतिवध्यतानिरूपितप्रतिवन्धकताशालियथार्थज्ञानविषयत्वंवाधस्य लक्षणम् । ग्रन्थोक्तोदाहरणे वह्नौ पक्षेऽनुष्णत्वाभावस्योष्णत्वस्य त्वगिन्द्रियेण निश्चयात द्रव्यत्वं हेतुर्वाधितः । एतद् ज्ञानं साक्षादनुमिति—प्रतिवन्धकम । वह्नावनुष्णत्वं नास्तीति ज्ञाने सति वह्निरनुष्ण इत्यनुमितेरसंभवात् तदभावलौकिकनिर्णयस्य तद्वत्ताज्ञाने प्रतिवन्धकत्वात् इति हेत्वाभासाः ४६ ॥

इति श्री वैद्यनाथ शास्त्रिकृतं भाषा टिप्पण्यादि युतमनुमानखण्डम् ॥ २ ॥

अथावसरसंगतिमभिप्रेत्यानुमानानन्तरम् उपमानं निरूपयति—सादृश्य ज्ञानकरणकत्वमुपमितेर्लक्षणम् । गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानं करणम् । अतिदेशवाक्यार्थस्मरणमवान्तरव्यापारः । उपमितिः फलम्, इति सारम् ॥ तच्चोपमानं त्रिविधम्—सादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानम्, स्वसाधारणधर्मविशिष्ट पिण्डज्ञानम्, वैधर्म्यविशिष्टपिण्डज्ञानंच ॥ तत्राद्यमुक्तमेव ॥ द्वितीयंयथा ' खड्गी मृगः कीदृक् ' इति पृष्टे ' नासिकालसं[illegible]कान्तगजाकृतिश्च ' इति तज्ज्ञातृभ्यः श्रुत्वा कालान्तरे तादृशपि[illegible]तदेशवाक्यार्थं स्मरति, तदनंतरं ' खड्गीमृगः खड्गपदवाच्यः ', इत्युपमितिरुत्पद्यते, अत्र ' नासिकालसदेकशृङ्गः ' इत्यसाधारणधर्मः ॥ तृतीयं यथा—उष्ट्रः कीदृक् ' इति पृष्टे ' अश्वादिवदसमानपृष्ठो न ह्रस्व ग्रीवशरीरश्च ' इति आप्तोत्तरिते कालान्तरेण तत्पिण्डदर्शनाद्वैधर्म्यविशिष्टपिण्डज्ञानम् । ततोऽतिदेशवाक्यार्थस्मरणम्, ततः ' उष्ट्र उष्ट्रपदवाच्यः ' इत्युपमितिरुत्पद्यते ॥ इत्युपमाननिरूपणम् ॥ ४७ ॥

स्मरन्गोसदृशंपिण्डं पश्यति। तदनन्तरमसौ गवयशब्दवाच्य इत्युपमितिरुत्पद्यते ॥ ४७ ॥

उपमिति का जो करण है वह उपमान है। संज्ञा और संज्ञी इनके मध्यसम्बन्धका जो ज्ञान है वह उपमिति है उस उपमिति ज्ञान का करण सादृश्य ज्ञान है; आप्तदेश वाक्यों के अर्थका जो स्मरण है वह अवान्तर व्यापार है। उदाहरण यथा—गवय इस शब्दका अर्थ क्या है यह नहीं जानने वाला ऐसा कोई एक मनुष्य है। वह किसी दूसरे जंगल में रहने वाले पुरुष से गवय यह गोसदृश (गाय सरीका) होता है ऐसा सुनता है तबही गाय सरीका कोई प्राणी उस के दृष्टि गोचर होता है, गवय यह गो सदृश है इस वाक्य के अर्थका इसको स्मरण होता है। उस के अनन्तर गवय वाच्य जो है वह यही प्राणी है इस प्रकार का उपमिति ज्ञान उसको उत्पन्न होता है ॥ ४७ ॥

इति श्री वैद्यनाथशास्त्रिकृतं भाषाटिप्पण्यादि युतमुपमानखण्डम् ॥ ३ ॥

आप्तवाक्यं शब्दः। आप्तस्तु यथार्थवक्ता।

अथावसरसंगत्या शब्दो निरूप्यते—शाब्दप्रमाकरणज्ञानविषयः शब्दः तथाचपदज्ञानकरणकत्वं शाब्दबोधस्य लक्षणम्। यथा नदीतीरे पञ्च फलानि सन्तीत्यादि। वाक्यार्थगोचरं यथार्थज्ञानं शाब्दप्रमा। अत्र पदज्ञानं करणम्, पदजन्यपदार्थोप[illegible]ारः। पदोपस्थितानां मिथः संसर्गो वाक्यार्थः। रम्। भ[illegible] पदसमूहो वाक्य[illegible], अर्थवाचकं पदम्। तद् द्विविधम्—मुख्यगौणभेदात्। यच्छक्तिवृत्त्या यदर्थमुपस्थापयति, तत्तस्मिन्नर्थे मुख्यम्। यथा गोघटादि व्यक्त्युपस्थापकं गोघटादिपदम्। अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इत्याकारकोऽनादिसंकेतः शक्तिः। यल्लक्षणावृत्त्या यमर्थमुपस्थापयति, तत्तस्मिन्नर्थे गौणं लाक्षणिकमित्युच्यते। यथा गङ्गायां घोष इत्यत्र तीरोपस्थापकं गङ्गापदम्। शक्यसंबन्धो लक्षणा। यथा गङ्गापदशक्यप्रवाहस्य घोषस्य तीरे संयोगसम्बन्धो गङ्गापदलक्षणा ॥ ४८ ॥

वाक्यं पदसमूहः । यथा गामानयेति । शक्तं पदम् । अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छा-संकेतः शक्तिः ॥ ४८ ॥

आप्त से उच्चारण करे हुए जो वाक्य हैं वे शब्दरूपी प्रमाण हैं जो सत्य बोलता है वह आप्त है । और पदों के समूह को वाक्य कहते हैं । उदाहरण यथा—गाय को लाओ यह वाक्य है जो शक्त होता है अर्थात् जिसके बीच में शक्ति है वह पद है । अमुकपद से अमुक अर्थ बोधितहोता है ऐसा जो ईश्वरका संकेत है वह शक्ति है ॥ ४८ ॥

आकांक्षा योग्यता सन्निधिश्च वाक्यार्थ-ज्ञाने हेतुः । पदस्य पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वमाकांक्षा । अर्थाबाधो योग्यता । पादानामविलम्बेनोच्चारणं सन्निधिः ॥ ४९ ॥

आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि यहतीन कारण वाक्यार्थ ज्ञानहोने में अवश्य होते हैं । दूसरे पद नहोने पर एक आदि पद के अन्वयका बोध न होने पर आकांक्षाहोती है । अर्थ के

तस्य च शब्दस्याकांक्षायोग्यतासन्निधयः सहकारिणः । यत्पदविशे-ष्यकाव्यवहितोत्तरत्वादिसम्बन्धेन यत्पदप्रकारकज्ञानव्यतिरेकप्रयुक्तो यादृश शाब्दबोधाभावः तादृशशाब्दबोधे तत्पदे तत्पदवत्त्वमाकांक्षा । तथाच यस्य पदस्य येन पदेन विनान्वयानुभवजनकत्वं नास्ति तस्य पदस्य तेन पदेन समभिव्याहारादाकांक्षा । घटमानयेत्यादौ कारकपदस्य क्रियापदेन विना घटकर्मकमित्यन्वयानुभवजनत्वाभावात्कारकपदस्य क्रियापदेन सहा-कांक्षा एवं क्रियापदस्य कारकपदेनापिबोध्या ॥ एकपदार्थेऽपरपदार्थसंसर्गो योग्यता ॥ यथा पयसा सिञ्चतीत्यादौ पयःपदार्थे से[illegible]गस्य कार्यकारण भावलक्षणस्य सत्त्वाद्योग्यता । पदानामव्यवधानं सन्निधिः । यथा गामा-नयेत्यादौ पदानामविलम्बेनोच्चारणात् सन्निधिः ॥ ४९ ॥

बोध न होने पर योग्यता होती है विलम्ब न होने पर पदों के उच्चारण करने से सन्निधि होती है ४९ ॥

आकांक्षादिरहितं वाक्यमप्रमाणम् । यथा गौरश्वः पुरुषो हस्तीति न प्रमाणमाकांक्षाविरहात् । अग्निना सिञ्चेदिति नप्रमाणं योग्यताविरहात् । प्रहरे प्रहरेऽसहोच्चारितानि गामानयेत्यादिपदानि न प्रमाणं सान्निध्याभावात् ५०

आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि इन से विरहित ऐसे जो वाक्यहैं वे प्रमाणभूत नहीं होते। उदाहरण यथा "गौरश्वः पुरुषो हस्ति" यह प्रमाण भूत वाक्य नहीं है क्योंकि यहां शब्दोंकी आकांक्षा नहीं है। अग्निना सिञ्चेत् (अग्निसे छिड़कता है) यह वाक्य प्रमाणभूत नहीं है क्योंकि इस में योग्यता नहीं है क्योंकि पानीसे सिंचनहोसक्ताहै अग्निसे नहीं इसप्रकार के अपने निश्चित अनुभव से यहां इसवाक्य में अर्थ बाधितहोरहा है। गायको लावो इस वाक्य में गायको यह शब्दोच्चारणकरने के अनन्तर एक प्रहरसे लाओ यह शब्द उच्चारण कियाजाय तो इसप्रकार के वहवाक्य प्रमाण नहीं होते क्योंकि इनपदार्थों में सांनिध्य नहीं है ५० ॥

वाक्यं द्विविधम् । वैदिकं लौकिकं च । वैदिकमीश्वरोक्तत्वात्सर्वमेव प्रमाणम् । लौकिकं त्वाप्तोक्तं प्रमाणम् । अन्यदप्रमाणम् ॥ ५१ ॥

वाक्य दोप्रकारके हैं एकतौ वैदिक दूसरे लौकिक। बेद यह ईश्वरोक्त (ईश्वरसे उच्चारण किया हुआ) होकर सवही वैदिक वाक्य प्रमाण होतेहैं और लौकिक वाक्यों में जो आप्तों से उच्चारण किये गये हैं वह प्रमाण होतेहैं। और बाकी के सब अप्रमाण होतेहैं ॥ ५१ ॥

वाक्यार्थज्ञानं शाब्दज्ञानम् । तत्करणं शब्दः ॥ ५२ ॥

वाक्यार्थ ज्ञानसेही शाब्द ज्ञान होता है और शब्द यह उसका करण है ॥ ५२ ॥ इति शब्दनिरूपणम् ।

अयथार्थानुभवस्त्रिविधः। संशयविपर्ययतर्कभेदात्। एकस्मिन्धर्मिणि विरुद्धनानाधर्मवैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानं संशयः। यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति।

शाब्दत्वं च 'शब्दात्प्रत्येमि' इत्यनुभवसिद्धा जातिः ॥ शाब्दबोधक्रमो यथा—'चैत्रोग्रामं गच्छति' इत्यत्र 'ग्रामकर्मकगमनानुकूलवर्त्तमानकृतिमान्' इति शाब्दबोधः ॥ द्वितीयायाः कर्मत्वमर्थः धातोर्गमनम्, अनुकूलत्वं च संसर्गमर्यादया भासते, लटो वर्त्तमानत्वम्, आख्यातस्य कृतिः सत्संबन्धः संसर्गमर्यादया भासते ॥ 'रथो गच्छात्ति' इत्यत्र 'गमनानुकूलव्यापारवान् रथः' इति शाब्दबोधः ॥ 'स्नात्वा गच्छति' इत्यत्र गमनप्रागभावावच्छिन्नकालीनस्नानकर्त्ता गमनानुकूलवर्त्तमानकृतिमान् इति शाब्दवोधः ॥ क्त्वाप्रत्ययस्य कर्त्ता पूर्वकालीनत्वं चार्थः ॥ एवमन्यत्रापि वाक्ये बोध्यम् ॥ सोऽयं शब्दस्त्रिविधः, विधिनिषेधार्थवादभेदात् । तत्र प्रवृत्तिपरं वाक्यं विधिः । यथा ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत, ओदनकामस्तण्डुलं पचेतेत्यादि । ज्योतिष्टोमनामको यागः स्वर्गरूपेष्टसाधनम् तण्डुलकर्मकपाक ओदनरूपेष्टसाधनमित्युभयवाक्यार्थः । यजेत पचेतेत्यादिविधिप्रत्ययेनेष्टसाधनत्वोपस्थापनात् । निवृत्तिपरं वाक्यं निषेधः । यथा न कलञ्जं भक्षयेदिति । कलञ्जभक्षणं नेष्टविशेषसाधनमित्यर्थः । इष्टविशेषश्चात्र पापानुत्पत्तिरेव । तथैव वाक्यतात्पर्यात् । विधिनिषेधाभिन्नः शब्दोऽर्थवादः) यथादित्यो यूपोऽग्निर्हिमस्य भेषजम्, वज्रहस्तः पुंदर इत्यादि । स चायं शब्दो लोके वेदे च समान इयांस्तु विशेषः, किंचिदेव लौकिकं वाक्यं प्रमाणं यदाप्तोक्तं वेदन सर्वमपि प्रमाणम्, परमाप्तेन भगवता कृतत्वात् इति शब्दनिरूपण

मिथ्याज्ञानं विपर्ययः । यथा शुक्ताविदं रजतमिति । व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः । यथा यदि अग्निर्न स्यात्तर्हि धूमोऽपि न स्यादिति ॥ ५३ ॥

अयथार्थानुभव तीनप्रकारका है। वह तीनप्रकार संशय, विपर्यय, और तर्क यह होतेहैं । एकही धर्मी परस्परविरुद्ध अनेक धर्मों से विशिष्ट है, ऐसे जो अपनेको ज्ञान होताहै वह संशयहै। उदाहरण यथा—यह स्थाणु (ठूंट) हैं किं वा पुरुष है यही संशय है । विपर्यय इसको मिथ्या ज्ञान कहते हैं । उदाहरण यथा—वास्तविक शुक्ति के होने में यह रजत है ऐसा जो अपने को मिथ्याज्ञान होयतो वह विपर्यय है। व्याप्यारोपसे व्यापकका आरोप करना इसीको तर्क कहते हैं उदाहरणयथा—जिस स्थलमें वह्नि नहीं होगी तो वहां धूमभी नहीं होगा ॥ ५३ ॥

स्मृतिरपि द्विविधा । यथार्था ऽयथार्था च । प्रमाजन्या यथार्था । अप्रमाजन्या ऽयथार्था ५४॥

स्मृतिभी दोप्रकारकी है एक यथार्थ दूसरी अयथार्थ जो प्रमासे उत्पन्न होतीहै वह यथार्थ है और जो अप्रमासे उत्पन्न होती है वह अयथार्थ है ॥ ५४ ॥

एकेति—एकस्मिन्धर्मिण्येकस्मिन्पुरोवर्तिनि पदार्थे विरुद्धा व्यधिकरणा नानाधर्माः स्थाणुत्वपुरुषत्वादयस्तेषां वैशिष्ट्यं सम्बन्धः तदवगाहि ज्ञानं संशयइत्यर्थः । विरुद्धकोटिद्वयप्रकारतानिरूपितैकधर्मिनिष्ठविशेष्यताशालिज्ञानत्वं संशयस्य लक्षणम् । तर्केतु वह्न्यभावो व्याप्यः धूमाभावो व्यापकः । यद्यपितर्कस्य विपर्यात्मकत्वेन पृथग्विभागोऽनुचितस्तथापि प्रमाणानुग्राहकत्वात् स उदित इति बोध्यम् ॥ ५३ ॥

सर्वेषामनुकूलवेदनीयं सुखम् ॥ ५५ ॥

सबोंको जो अनुकूल मालूम होताहै वही सुखहै ५५ ॥

प्रतिकूलतया वेदनीयं दुःखम् ॥ ५६ ॥

जो अपने को प्रतिकूल दीखता है वही दुःखहै ॥ ५६ ॥

इच्छा कामः ॥ ५७ ॥

इच्छा—इसेकाम (कामना) कहते हैं ॥ ५७ ॥

क्रोधो द्वेषः ॥ ५८ ॥

द्वेष उसको क्रोध कहते हैं ॥ ५८ ॥

कृतिः प्रयत्नः ॥ ५९ ॥

प्रयत्न को कृति कहते है ॥ ५९ ॥

विहितकर्मजन्यो धर्मः ॥ ६० ॥

धर्मजन[illegible]यत्वं सुखस्य लक्षणम् । सर्वात्मनामनु-
कूलः इतिवेद्य[illegible]त्यर्थः । अहं सुखीत्यनुभवसिद्धसुखत्वजाति
मद् धर्ममात्रासाधारण[illegible]रणगुणो वा सुखम् ॥ ५५ ॥

पापजन्यत्वेसति प्रतिकूलवेदनीयत्वं दुःखस्य लक्षणम् । अथवा
दुःखत्वजातिमद् अधर्ममात्रासाधारणकारणगुणोदुःखम् ॥ ५६ ॥

यत्नसँस्काराभिन्नत्वे सम्बन्धानवच्छिन्नप्रकारताकत्व मिच्छाया लक्ष-
णम् । अथवा—इच्छात्वजातिमती इच्छा । सा द्विधा—फलेच्छा उपाये-
च्छाच । फलं सुखादिकम् । उपायोयागादिः ॥ ५७ ॥

विघ्नोत्पादकज्ञानजन्यगुणत्वं द्वेषस्यलक्षम् । द्वेष्मीत्यनुभव द्वेषत्व-
जातिमान् द्विष्टसाधनताज्ञानजन्यगुणो वा द्वेषः ॥ ५७ ॥

सँस्कारेच्छाभिन्नत्वेसति सम्बन्धानवच्छिन्नप्रकारताकत्वं यत्नस्य
लक्षणम् । अथवा—प्रयत्नत्वजातिमान्प्रयत्नः । सत्रिविधः—प्रवृत्ति
निवृत्तिजीवनयोनिभेदात् । इच्छाजन्योगुणः प्रवृत्तिः । द्वेषजन्यो
गुणोनिवृत्तिः जीवनादृष्टजन्यो गुणोजीवनयोनिः सच प्राणसंचारकार-
णम् ॥ ५९ ॥

स्वर्गाद्युत्पादकयागादिव्यापारत्वं धर्मस्य लक्षणम् ॥ ६० ॥

विहित (शास्त्रसे विधान किये हुए) कर्मसे जो उत्पन्न होय वह धर्म है ॥ ६० ॥

निषिद्धकर्मजन्यस्त्वधर्मः ॥ ६१ ॥

निषिद्ध कर्म से जो उत्पन्न होय वह अधर्म है ॥ ६१ ॥

बुद्ध्यादयोऽष्टावात्ममात्रविशेषगुणाः ॥६२॥

बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म और अधर्म, यह आठ ८ केवल आत्मामें रहने वाले विशेषगुण हैं ॥ ६२ ॥

बुद्धीच्छाप्रयत्ना द्विविधाः । नित्या अनित्याश्च । नित्या ईश्वरस्य अनित्या जीवस्य ६३

बुद्धि, इच्छा, और प्रयत्न यह गुण नित्य और अनित्यऐसे दोप्रकारके हैं । वह ईश्वर के नित्य और जीव के अनित्य होत हैं ॥ ६३ ॥

संस्कारस्त्रिविधः । वेगो भावना स्थितिस्थापकश्चेति । वेगः पृथिव्यादिचतुष्टयमनोवृत्तिः अनुभवजन्या स्मृतिहेतुर्भावनात्ममात्रवृत्तिः । अन्यथाकृतस्य पुनस्तदवस्थापादकः स्थितिस्थापकः । कटादिपृथिवीवृत्तिः ॥ ६४ ॥

निन्दितकर्मजन्यनरकाद्युत्पादकगुणत्वमधर्मस्य लक्षणम् ॥ ६१ ॥
बुद्ध्यादयोऽष्टाविति–बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मा इत्यर्थः ॥६२॥
सामान्यगुणात्मविशेषगुणोभयवृत्ति गुणत्वव्याप्यजातिमत्त्वं सँस्कारस्यलक्षणम् । तीक्ष्णगतिजनकगुणत्वं वेगस्य लक्षणम् । अनुभवजन्यस्मृतिजनकगुणत्वं भावनाया लक्षणम् । स्थानप्रचालितवस्तुनः पुनःपूर्ववत्स्थापकत्वं स्थितिस्थापकस्य लक्षणम् । स्थितिस्थापकवेगौद्वौ क्रियाजन्यौ स्वजन्याक्रियनाश्यौ च । त्रिविधसंस्कारोऽनित्य एव ॥ इति गुणनिरूपणम् ॥ ६४ ॥

सँस्कार तीनप्रकार का है ; वोहतीन प्रकार-वेग, भावना और स्थितिस्थापक यह होते हैं । इनमें वेग पृथ्वी, जल, तेज, वायु, और मन, इतनी जगह रहता । जो अनुभवसे उत्पन्न होती है और जो स्मृतिका कारणीभूतहै वही भावना है यह भावना आत्ममात्रमे ही रहती है । कोई वस्तु स्वभावसे किसी तरहकी एक विशिष्ठ स्थितिमें है उसका उलट पुलट करके फिरभी वह उस के योग्य से अपनी पाहले की स्थिति में रहे उसको स्थितिस्थापक कहते हैं । वह धर्म कट (चटाई) आदि पार्थिव द्रव्यमें रहताहै ६४

चलनात्मकं कर्म । ऊर्ध्वदेशसंयोगहेतुरुत्क्षेपणम् । अधोदेशसंयोगहेतुरपक्षेपणम् । शरीरसन्निकृष्टसंयोगहेतुराकुञ्चनम् । विप्रकृष्टसंयोगहेतुः प्रसारणम् । अन्यत्सर्वं गमनम् ॥ ६५ ॥

जो चलनात्मक होता है वह कर्म है । उसके उत्क्षेपण अपक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण, और गमन यह पांच भेद हैं । ऊर्ध्व देश में संयोग होने का कारणभूत जो कर्म है वह उत्क्षेपण होताहै । अधो देशमें संयोग होने का कारणीभूत जो कर्म वह अपक्षेपणहै । अपने शरीर के संन्निध आनेवाली वस्तु में संयोग होनेका कारणीभूत जो कर्म है वह आकुञ्चन है । अपने शरीरसे दूरजाने वाली वस्तु में संयोग होने का कारणी

ऊर्ध्वदेशसंयोगजनकक्रियानुकूलक्रियावत्वमुत्क्षेपणस्य लक्षणम् । अधोदेशसंयोगजनकक्रियानुकूलक्रियावत्वमपक्षेपणस्य लक्षणम् । स्वसन्निकृष्टदेश संयोगजनकक्रियानुकूलक्रियावत्वमाकुञ्चनस्य लक्षणम् । दूरदेशसंयोगजनकक्रियानुकूलक्रियावत्वं प्रसारणस्य लक्षणम् । उत्तरदेशसंयोगजनकक्रियावत्वं गमनस्य लक्षणम् । पंचविधमपि कर्म मूर्तद्रव्यमात्र समवेतमनित्यमेव । उत्तरसंयोगात्कदाचिदाश्रयनाशाच्चनश्यति इति कर्मनिरूपणम् ॥ ६५ ॥

भूत जो कर्म है वह प्रसारण है । और इनसे बाकी रहैं जो सब प्रकारके कर्म हैं वह गमन में अन्तर्भाव होतेहैं । कर्म पृथ्वी, जल, तेज, वायु, और मन, इनहीमें रहते हैं ६५ ॥

सामान्य की परिभाषा

नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम् । द्रव्य गुणकर्मवृत्ति । तद्द्विविधं परापरभेदात् परं सत्ता अपरंजातिर्द्रव्यत्वादि ॥ ६६ ॥

जो नित्य एक और अनेकानुगत होता है वह सामान्यहै वह द्रव्य, गुण, और कर्म, इनमें रहताहै । फिर वह पर, और, अपर ऐसे दो प्रकार का है ॥ सत्ता यह पर सामान्य कहाता है और द्रव्यत्वादि यह अपर सामान्य कहाते हैं ॥ ६६ ॥

विशेष की परिभाषा

नित्यद्रव्यवृत्तयो व्यावर्तका विशेषाः ६७

जिसके योग से नित्य द्रव्योंमे परस्पर भेद उत्पन्न होता है वह विशेष पदार्थ है । वह नित्य द्रव्यों मे रहताहै ॥ ६७ ॥

समवाय की परिभाषा

नित्य सम्बन्धः समवायः । अयुतसिद्ध वृत्तिः । ययोर्द्वयोर्मध्य एकमपराश्रितमेवावतिष्ठ ते, तावयुतसिद्धौ । यथा अवयवावयविनौ,

---

अधिकदेशवृत्ति सामान्यं परम् । यथा सत्ताया द्रव्यादित्रितयवृत्तित्वेनेतरसामान्यापेक्षयाधिकदेशवृत्तित्वात् । अल्पदेशवृत्ति सामान्यमपरम् । यथा द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादि, सत्तापेक्षयाल्पदेशवृत्तित्वात् । पुनः सामान्यं द्विविधम्–जातिरूपमुपाधिरूपं च । साक्षात्संबद्धं सामान्यं जातिरूपम् । यथा सत्ताद्रव्यत्वादि । परम्परासंबद्धं सामान्युमुपाधिः । यथा प्रमेयत्वज्ञेयत्वादिर्दण्डित्वकुण्डलित्वादिश्च । प्रमात्वमेव हि परम्परासंबन्धेन घटादिनिष्ठं प्रमेयत्वमित्यादि बोध्यम् । इति सामान्यनिरूपणम् ॥ ६६ ॥

नित्यद्रव्यवृत्तिविशेषाणां सामान्यस्य च विशेषतो विभागाभावात्सामान्यलक्षणमेव पूर्वोक्तमवसेयम् । परंतु विशेषानभ्युपगमे समा-

गुणगुणिनौ, क्रियाक्रियावन्तौ, जातिव्यक्ती, विशेषनित्यद्रव्ये चेति ॥ ६८ ॥

समवाय यह नित्य सम्बन्ध वाला होता है और अयुत सिद्धों के स्थल में रहता है। जिन दोनों में एक दूसरे का आश्रय करकै रहता है वह दोनों अयुत सिद्ध होते हैं। अयुतसिद्ध यह हैं यथा, अवयव, और अवयवी, गुण, और गुणी, क्रिया, और क्रियावान्, जाति और व्यक्ति, विशेष और नित्यद्रव्य ॥ ६८ ॥

अनादिः सान्तः प्रागभावः । उत्पत्तेः पूर्वं कार्यस्य । सादिरनन्तः प्रध्वंसः । उत्पत्त्यनन्तरं कार्यस्य । त्रैकालिकसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽत्यन्ताभावः ॥ यथा 'भूतले घटो नास्ति,' इति ॥ तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽन्योन्याभावः ॥ यथा 'घटः पटो न' इति ॥ ६९ ॥

नुजातिगुणक्रियावतां परमाणूनां परस्परव्यावृत्तिबुद्धिर्न स्यात्, तत्रेष्टापत्तौ योगिनोऽपि तादृशपरमाणूनां ज्ञानसंकरः स्यादिति । एवं युतसिद्धयोः संयोग इवायुतसिद्धयोः समवायोऽवश्यः ययोर्द्वयोर्मध्ये एकमविनश्यदपराश्रितमेवावतिष्ठते, तावयुतसिद्धौ । एतौ पंचविधाःवयवावयविनौ गुणगुणिनौ क्रियाक्रियावन्तौ जातिव्यक्ती विशेषनित्यद्रव्ये चेति । अवयव्यादयो ह्यविनश्यन्तोऽवयवाद्याश्रिता एवावतिष्ठन्ते । अवयवादिनाशानन्तरं विनश्यन्तस्तु क्षणमात्रं निराश्रिता एवावतिष्ठन्ते । इति विशेषसमवाययोर्निरूपणम् ॥ ६७ । ६८ ॥

जो अनादि और सान्त होकर कार्य उत्पन्न होनेके पहले अस्तित्व मे रहताहै । वही प्रागभाव है प्रध्वन्स यह सादि और अनन्तहोताहै और वह कार्य की उत्पत्तिके अनन्तर अस्ति त्वमें रहताहै । अत्यन्ताभाव—तीनो कालके अस्तित्वमें रह ताहै । और उसका प्रतियोगी संसर्ग सम्बन्ध से अवच्छिन्नहो ताहै '' भूतलमें घट नहीहै, यह अत्यन्ताभाव का उदाहरणहै। जिसका प्रति योगी तादात्म्य सम्बन्धसे अवच्छिन्न होता है वह अन्योन्याभाव है यथा— घट यह पट नहीं, यही अन्योन्या भावका उदाहरण है ॥ ६९ ॥

सर्वेषामेव पदार्थानां यथायथमुक्तेष्वेवान्त र्भावात् ' सप्तैवपदार्थाः , इति सिद्धम् ॥ ७० ॥

भावाद्विपरीतोऽभाव: । प्रतियोगिसत्तायाः पूर्वोयोऽभावोभवति सएवप्राग भावः । यस्याभावः सएव प्रतियोगी । यथाघटाभावस्य प्रतियोगीघटः । प्रध्वन्सरूपो योऽभावः स प्रध्वन्साभावः घटोध्वस्तइति । कालत्रयेऽपि सम्ब-न्धाभावः अत्यन्ताभावोयथा वंध्यापुत्रोनास्ति नासीन्नभविष्यतीति । अन्योन्य शब्दस्य परस्परार्थः तस्ययोऽभावःपदार्थद्वयेएवभवति लक्षणानिपूर्व मेवोक्तानितिज्ञेयामिति ॥ ६९ ॥

ननु प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्प-वितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगम इति न्यायशास्त्रे षोडशपदार्थानामुक्तत्वात्कथं सप्तैवेत्यत आह–सर्वेषामिति । सर्वेषां सप्तस्वेवान्तर्भाव इत्यर्थः । ननु निःप्रयोजनमेतत्पदार्थनिरूपणं तज्जन्यपदार्थ तत्त्वज्ञानस्य सुखदुःखाभावतत्साधनेतरत्वेन प्रयोजनत्वाभावादिति चेन्न, पदार्थ तत्वज्ञानस्यात्मतत्वज्ञानद्वारा मोक्षसाधनत्वात् । आत्यन्तिकदुःखध्वंसो मोक्षः। सच स्वसमानाधिकरणदुःखप्रागभावासमानकालीनदुःखध्वंस इति सर्वं शिवम् ७० ॥

सप्तभिन्न जितने पदार्थ प्राचीनोंने मानेहैं उनसबका किसी न किसी इन्ही सातो पदार्थों में अन्तर्भावहोजाता है इसलिये सातही पदार्थहैं यही सिद्धहोता है ॥ ७० ॥

काणादन्यायमतयोर्बालव्युत्पत्तिसिद्धये ।
अन्नंभट्टेनविदुषा रचितस्तर्कसंग्रहः ॥

कणादसे रचे हुए वैशेषिकदर्शन और गौतमसे रचे हुए न्यायदर्शन इन के मतको इन्ही शास्त्रों के पारंगतहोनवाले बालको के ज्ञानहोने के लिये अन्नंभट से यहतर्कसंग्रह नाम वाला ग्रन्थ रचागया ॥ १ ॥

इति अन्नंभट्टविरचितस्तर्कसंग्रहः संपूर्णः ॥१॥

पूर्त्ति श्लोकः ॥

वंशेसारस्वतीयेसुविपुलगुणवान्सर्वविद्यासनाथः
श्रीमन्नारायणाख्योद्विजवरमुकुटस्तत्सुतोवैद्यनाथः
तेनान्नंभट्टवन्धेप्रचरतुसततंदेशभाषाप्रणीता ।
तर्काणांसंग्रहोऽयं शिशुमतिमलदो टिप्पणीयुक्
सुपूर्णः ॥ १ ॥

भाष्यकर्तुर्वंशवर्णनमपराधक्षमापनञ्च

सारस्वतानां सुमुरादपुर्य्यां वंशेशिवाख्यः कविवंदनीयः ।
द्विजोवदर्याख्यसुतस्तदीयो विद्वद्वराणां बहुमाननीयः ॥ २ ॥
सूनुश्च नारायणदासशर्म्मा सर्वेषु शास्त्रेषु च वित्तमर्म्मा ।
तदात्मजोऽर्च्यप्रमथाधिनाथो विद्यासनाथः सच वैद्यनाथः ३॥
तेन प्रणीतं विदुषां हितार्थं सुविस्तरं भाष्यमिदं नृवाण्याम् ।
पूर्णं ह्यसूद्विष्णुशिवप्रसादाद्बुधैरशुद्धं खलु शोधनीयम् ॥ ४ ॥

आपका कृपाकांक्षी-वैजनाथशास्त्री, मुरादाबाद.

TARK SUNGRAH

Having meditated on the Lord of the world, and having saluted my preceptor, I compose this Compendium of Logical results for the pleasant comprehension of the uninstructed.

1. There are seven Categories;—Substance, Quality, Action, Genus, Difference, Co-inherence and Non-existence.

2. Substances are nine:—Earth, Water, Light, Air, Ether, Time, Place, Soul and Mind.

3. There are twenty-four Qualities;—Colour, Savour, Odour, Tangibility, Number, Dimension, Severalty, Conjunction, Disjunction, Priority, Posteriority, Weight, Fluidity, Viscidity, Sound, Understanding, Pleasure, Pain, Desire, Aversion, Effort, Merit, Demerit and Faculty.

4. Throwing upwards, Throwing downwards, Contraction, Expansion and Going are Actions

5. Genus is of two kinds;—Higher and Lower.

6. Differences, found in eternal substances, are endless.

7. Co-inherence is one only.

8. Non-existence is of four kinds:—Antecedent non-existence, Destruction, Absolute non-existence and mutual nonexistence.

9. The earth having the quality of Odour is of two kinds, Eternal and non-eternal. In its

atomic character it is Eternal; and when some product arises out of those atoms, then it is called non-eternal. This (the earth as a product) is of three kinds, through the differences of body, organ of sense and mass. The body is that of us men. The organ which gives us the knowledge of Smell resides in the fore-part of the nose. And the masses are clods, stones, &c.

10. Waters are those which appear cold to the touch. They are of two kinds:—Eternal and Non-eternal. In the form of atoms, they are Eternal; but when a product is produced by those atoms, then they are Non-eternal. This [water in the form of products] is of three kinds, through the differences of body, organ of sense and mass. The body exists in the world of *Varuna*. The sense which gives the knowledge of Taste, resides in the fore-part of the tongue. The masses are rivers, seas, &c.

11. Light is that which is warm to the touch. It is of two kinds:—Eternal and Non-eternal. It is Eternal in the form of atoms, and non-eternal in the form of products. This [light in the form of a product] is of three kinds; through the differences of body, organ of sense and mass. The body which exists in the Solar realm, is well-known. The sense, the percipient of color, is called the Sight and resides in the fore part of the pupil of the eye. Masses are of four kinds: produced in earth, produced in the sky, produced in the

stomach, and produced in mines. That produced in earth, is fire &c, in the sky, it is hightning &c, the fuel of which is water; in the stomach, it digests food; in mines, it is gold &c.

12. Air is that which has no colour, and has tangibility. It is of two kinds:—Eternal and Non-eternal. In the form of atoms it is Eternal; and in the form of products it is Non-eternal. This [air in the form of products] is of three kinds, through the differences of body, organ of sense and mass. The sense is the Touch, the apprehender of tangibility, existing throughout the whole body. The mass is that which is the cause of the shaking of trees &c.

13. Air circulating within the body is called *Prana*. Although it is but one, yet from the difference of its accidents, it is called Breath, Flatulence, &c. [Breath, Flatulence, Cerebral pulsation, General pulsation and Digestion].

14. Ether is that in which resides the quality of sound. It is one, all-pervading and eternal.

15. Time is that which is the cause of the Past, Present and Future. It is one, all-pervading and eternal.

16. Space is that which is the cause of the employment af East, &c. (East, West, North and South). It is one, all-pervading and eternal.

17. Soul is that in which knowledge resides. It is of two kinds;—the animal soul and the Supreme soul. The Supreme soul is God, the

Omniscient. He is One only and devoid of joy or sorrow. The Animal soul is separate in each body and is all-pervading and eternal.

18. Mind is that sense which feels pleasure, pain, &c. It is innumerable, for it remains with each soul and is atomic and eternal.

19. That quality which is apprehended only by the sense of Sight, is called Colour. It is of seven kinds: White, Blue, Yellow, Red, Green, Brown and Variegated, residing in earth, water and light. In earth colour of the seven kinds resides; in water resides white colour not lustrous and in light it is lustrous white.

20. That quality which is known through the sense of Taste, is called Savour. It is of six kinds: Sweet, Sour Saline, Bitter, Astringent and Pungent, residing in earth and water. In earth, there is savour of the six kinds; but in water, there is only the sweet savour.

21. The quality which is apprehended by the sense of Smell, is called Odour. It is of two kinds: Fragrnce and Stench, residing in earth alone.

22. That quality which is perceived only by the organ of Touch, is called Tangibility. It is of three kinds: Cold, Warm and Temperate. It resides in earth, water, light and air. Coldness resides in water, Warmth in light, and Temperateness in earth and air.

23. Colour, Savour, Odour and Tangibility produced in Earth by Heat are transient. But

in Water, Light and Air they are not produced by heat. They are then Eternal or Transient. They are eternal in things eternal and not eternal, in Transient things.

24. That quality, which is the peculiar cause of the conception of Unity, &c., is called Number. It resides in the nine substances. Reckoning from Unity, it is as far as a *Parardha* [100,000, 000,000,000,000,]. Unity is both Eternal and Non-eternal. In eternal things it is Eternal; but in a non-eternal thing, it is Non-eternal. But Daulity,&c., is everywhere Non-eternal.

25. The peculiar cause of the conception of Bulk, is Measure. It resides in the nine substances and is of four kinds;—Small, Great, Long and short.

26. The peculiar cause of difference in thing- is called Severalty. It resides in all the subss tances.

27. The peculiar cause of the conception of conjoined things is called Conjuction. It resides in all the substances.

28. That quality which annihilates Conjunction, is called Disjunction. It resides in all the substances.

29. The peculiar cause of the conception of things Far and Near, is called Remotenss and Proximity. These reside in earth, water, light, air and mind. They are of two kinds;—Made by Space and Made by time. Remoteness of Space

is found in the thing which is at a distance; nad proximity of Space in that which is near. In an older person there is the Remoteness of Time; and in a younger one there is Proximity of Time

30. The quality which is the non-intimate cause of incipient falling, is called Weight. It resides in earth and in water. (It is also found in air.)

31. The quality which is the non-intimate cause of incipient tricking, is called Fluidity. It resides in earth, water and light. It is of two kinds;—Natural and Accidental. Natural fluidity resides in water; and Accidental in earth and light. In earthy substances, such as butter &c, and in those made of light, such as gold &c., fluidity is caused by the conjunction of fire.

32. The quality which is the cause of the union of particles is called Viscidity. It resides in water alone.

33 The quality which is apprehended by the organ of hearing is called Sound. It resides only in the ether. It is of two kinds;—Inarticulate and Articulate. Inarticulate sound is produced by means of a Drum &c.; Articulate sound is that which is spoken in Sanskrit or any other language.

34. Knowledge, which is the cause of every conception is called Understanding. It is of two-kinds:-Memory and Notion. The knowledge which is produced only by its own antecedence, is called Memory and knowledge which is different from, is called Notion. The lost one is of two kinds:-

Right and wrong. When our idea of thing is correct, it is called a Right notion; as, in the case of silver, the idea of its being silver. This is called *prama* [commensurate with its object]. The supposing a thing to be what it is not, is called a wrong notion; as, in the case of shell, the notion of its being silver. This is called *Aprama* !

35. Right notion is of four kinds: Perceptions, Inferences, Conclusions from similarity and Assertions. The efficient cause of those, also is of four kinds; Preception, Inference, Recognition of similarity and Assertion.

36. Whatever is the cause not common to all effects that is the instrumental cause thereof. That which is invariably antecedent to scme effect, and is not otherwise constituted is the cause (of that product). That which annuls its own antecedent non-existence is called an Effect.

37. Cause is of three kinds, through the distinctions of Intimate, Non-intimate and instrumental. That in which an effect intimately relative to it takes its rise, is an Intimate cause; as threads are of cloth, and the cloth itself of its own colour &c. Where this intimate relation exists, that cause which is associated with one and the same object with such effect or cause, is Non-intimate; the conjunction of the threads is the non-intimate cause of the cloth, and the colour of the threads, that of the colour of the cloth. The cause which is distinct from both of these is

the Instrumental cause; as, the weaver's brush, the loom &c, in case of cloth. Among these three kinds of causes, that only is called instrumental which is not a universally concurrent cause or condition.

38. The cause of the knowledge, called sensation is an organ of sense; knowledge produced by the conjunction of an organ of sense and its object, is sensation. It is of two kinds;—Where it does not pay regard to an alternative, and where it does. The knowledge which does not pay regard to an alternative is that which involves no specification, as in the simple cognition that this is something that exists. The knowledge which contemplates an alternative is that which includes a specification, as, 'This is *Dittha,*' 'This is *Brahmana,*' 'This is Ṣhyam, &c.

39. The relative proximity of a sense and its object, which is the cause of preception, is of six kinds;—Conjunction, Intimate union with that which is in conjunction, Intimate union with what is intimately united with that which is in conjunction, Intimate union, Intimate union whith that which is intimately united, and the Connection which arises from the relation between that which qualifies and the thing qualified. When a jar is preceived by the eye, there is (between the sense and the object) the proximity of Conjunction. In the perception of the colour of the jar, there is the proximity of Intimate union with that which is in conjunction;

because the colour is intimately united with the jar and is in conjunction with the sense of vision. In the perception of the fact that colour generically is present, there is the proximity of intimate union with what is intimately united with that which is in conjunction because the generic property of being a colour is intimately united with the particular colour which is intimately united with the jar which is in conjunction with the sense of vision. In the perception of sound by the organ of hearing there is the proximity of Intimate union; because the organ of hearing consists of the ether which resides in the cavity of the ear, and sound is a quality of ether, and there is intimate union between a quality and that of which it is the quality. In the perception of the nature of sound, the proximity is that of intimate union with what is intimately united; because the nature of sound is intimately united with sound which is intimately united with the organ of hearing. In the perception of non-existence, the proximity is dependent on the relation between a distinctive quality and that which is so distinguished; because when the gronnd is (perceived to be) possessed of non-existence of a jar, the non-exitence of a jar distinguishes the ground which is in conjunction with the organ of vision. Knowledge produced by these six kinds of proximity is Preception. Its instrumental cause is Sense. Thus it is settled that an organ of sense is what gives us the knowledge called sensation.

40. The instrument (in the production) of an inference is a generalized Fact. An inference is the knowledge that arises from deduction. Deduction is the ascertaining that the subject possesses that character which is invariably attended [by what we then predicate of it.] For example, the knowledge that 'this hill is characterized by smoke, which is always attended by fire,' is a deductive application of a general principle; the knowledge produced from which, *viz.* that the hill is fiery,' is an inference. Invariable attendedness is the fact of being constantly accompained; as,–in the example 'Wherever there is smoke, there is fire [by which it is invariably attended].' By the subject's possessing a character &c.,' is meant that in a mountain &c. there is present that which is invariably attended.

41. A general principle is of two kinds, in so far as it may be useful for one's self, and for another. That which is employed for one's self is the cause of a private conclusion in one's own mind. For example, having repeatedly and personally observed, in the case of culinary hearths &c., that where there is smoke there is fire, having assumed that the concomitancy is invariable, having gone near a mountain, and being doubtful as to whether there is fire in it, having seen smoke on the mountain, a man recollects the invariable attendance of fire where there is smoke. Then the knowledge arises that 'this mountain is

characterised by smoke, which is invariably attended by fire.' This is called the Consideration of a sign. Thence is produced the knowledge that 'the mountain is fiery,' which is the Conclusion. This is the process in inference for one's self. But, after having, to the satisfaction of his own mind, inferred fire from smoke, when one makes use of the five-membered form of exposition for the instruction of another, then is the process one of inference for the sake of another, For example:-

(1) The mountain is fiery;
(2) Because it smokes;
(3) Whatever smokes is fiery, as a culinary hearth;
(4) And this is so;
(5) Therefore it is fiery as aforesaid;

In consequence of the token here rendered, the other also admits that there is fire.

42. There are five members of this syllogism;-the Proposition, the Reason, the Example, the Application and the Conclusion. 'The mountain is fiery,' is the Proposition; 'Because it smokes,' is the Reason; 'Whatever smokes &c.,' is the Example, 'And so this mountain is,' is the application; 'Therefore it is fiery,' is the Conclusion.

43. The cause of an inference, whether for one's self or for another, is simply the Consideration of a sign; therefore 'the *anumana* [the cause of an inference] is just this Consideration of a sign.'

44. A sign is of three sorts;—That which may be token by its presence or by its absence; that

which betokens only by its presence; and that which betokens only by its absence. The first is that token which is possessed of pervading inherence both in respect of its association (with the things which it betokens) and its absence (when the thing it betokens is absent) as, for example, 'smokiness,' when 'fire' is to be proved. When it is said, 'where there is smoke there is fire, as on a culinary hearth,' we have a case of concomitant presence. When it is said, 'where fire is not, there smoke also is not, as in a great deep lake,' we have a case of concomitant absence. The second is that token which has no negative, instance, as when it is said 'the jar is nameable because it is cognizable, as cloth is,' there is no instance of nameableness, or of cognizableness being present where the other is absent, because every thing (that we can be conversant about) is both cognizable and nameable. The third is that token in regard to which we can reason only from its invariable absence. For example:—

(1) Earth is different from these (other elements);
(2) Because it is odorous;
(3) Nothing that is not different from these is odorous;—as water;
(4) But this is not so;
(5) Therefore it is different from the other elements.

But if we had argued [affirmatively] that 'what possesses odour is different from the other ele-

ments,' we should have had no example to cite in confirmation, seeing that of earth alone can that property be asserted.

45. Subject is that whose possession of what is to be established is doubtful; as the mountain, when the fact of its smoking is assigned as the reason (for inferring the presence of fire). That which certainly possesses the property in question is called an instance on the same side; as the culinary hearth, in the same example. That which is certainly devoid of the property in question is called an instance on the opposite side; as the great deep lake, in the same example.

46. The five, that merely present the appearance of a reason, are:—That which goes astray, that which would prove the contradictory; that where there is an equally strong argument on the other side; the Unreal; and the Futile. The alleged reason which goes astray, is that which has not just the one conclusion. It is of three kinds;—what would prove too much; what belongs to none besides the individual; and the Non-exclusive. The fallacy falls under the first head when that which is alleged as the proof may be present whilst that which is to be proved is, absent; —as for instance, if one should say, 'The mountain is fiery, because it is an object of right knowledge,' [the reason assigned would be liable to this objection] because the being an object that may be rightly known is predicable also of a lake, which is

characterised by the absence of fire. That which belongs neither to a similar instance nor to a dissimilar one devoid of community. As, when one says, 'Sound is eternal, for it has nature of sound.' Now the nature of sound belongs to sound alone, and to nothing else, whether eternal or non-eternal The pretended argument, which can bring an example neither in support nor in opposition, is Non-exclusive. For example, should one say, 'Everything is non-eternal because it is cognizable,' there would be no example to cite, because 'every thing' is the subject of the conclusion. A reason proving the reverse, is that which invariably attends the absence of what is to be proved. For example—suppose one should say, 'sound is eternal because it is created.' A counter-balanced reason is that along with which there exists another reason, which (equally well) establishes the non-existence of what is to be proved. As if one should argue, ' Sound is eternal, because, it is audible, as the nature of sound is (by both parties admitted to be), (it might be argued, with equal force on the other side, that) 'sound is non-eternal, because it is a product, as a jar is, . An unreal reason is threefold—whence there is not established the existence of any such locality as that where the property is alleged to reside; where the nature alleged does not really reside in the subject; and where the alleged invariableness of concomitancy is not real,

The fallacy of non-existent locality, as the sky-lotus is fragrant, because the nature of a lotus resides in it, as in the 'lotuses of the lake'— here the sky-lotus is the locality and in fact it does not exist. As an argument where the nature does not really exist in the subject: 'Sound is a quality, because it is visible'—here (every one, would perceive at once, that) visibility does not reside in sound, for sound is recognised by the hearing. A reason, when there is an indispensable condition is faulty as regards comprehensiveness. Such, an indispensable condition is what always attends property to be established, but does not always attend what is brought forward in proof. Invariable attendance on the property to be established consists in its not being the counterentity of the absolute non-existence, which has the same location as that which is to be proved. Non-invariable attendance on what is brought forward in proof, consists in its being the counter-entity of the non-existence which has what is brought forward in proof. 'The mountain must smoke, because it is fiery'—in this case the contact of wet fuel is an indispensable condition. For, wherever there is smoke, there is the cojunction of wet fuel'—so that we have here invariable attendance on what is to be proved. But it is not true that 'wherever there is fire, there is conjunction of wet fuel'—for there is no conjunction of wet fuel in the case of an (ignited) iron

ball—so we have here non-invariable attendance on the proof. As there is thus its invariable attendance on what is to be proved, the contact of wet fuel is an indispensable condition for the sufficiency of the reason alleged. As it would require this additional condition fieriness is faulty as regards comprehensiveness. An argument is futile when the reverse of what it seeks to prove is established for certain by another proof. For example 'Fire is cold, because it is a substance. There coldness is to be proved; and its opposite, warmth, is apprehended by the very sense of touch. Hence the argument is futile.'

47. 'Comparison or the recognition of likeness, is the cause of an inference from similarity. Such an inference consists in the knowledge of the relation between a name and the thing so named. Its instrument is the knowldge of a likeness. The recollection of the purport of a statement of resemblance is the operation of that instrument. For example—a person not knowing what is meant by the word '*gavaya*,' having heard from some inhabitant of the forest that a *gavaya* is like a cow, goes to the forest, Remembering the purport of what he has been told, he sees a body like that of a cow. Then this inference from similarity arises (in his mind), that this is meant by the word *gavaya*.'

48. 'A word (right assertion) is the speech of one worthy (of confidence). One worthy, is the speaker of the truth. A speech [sentence]

is a collection of significant sounds; as for example, Bring the cow.' A significant sound is that which is possessed of power (to convey a meaning). The power (of a word) is the appointment, in the shape of God's will, that such and such an import should be recognizable from such and such a significant sound.'

49. 'The cause of the knowledge of the sense of a sentence is the Inter-dependance, Compatibility and Juxta-position. Inter-dependance means the inability in a word to indicate the intended sense in the absence of another word. Cmopatibility consists in not rendering futile the sense (of a sentence.) Juxta-position consists in the enunciation of the words without a pause between each.'

50. 'A collection of words devoid of inter-dependance &c., is no valid sentence—for example 'cow, horse, man, elephant,' gives no information, the words not looking out for one another. The expression ' He should irrigate with fire' is no cause of right knowledge, for there is no compatibility (between fire and irrigation.) The words Bring—the—cow,' not pronounced close together but with an interval of some three hours between each, are not a cause of correct knowledge, from the absence of juxta-position.'

51. Speech is of two kinds;—Sacred and Profane. The former being uttered by God, is all authoritative: but the latter, only if uttered by one who deserves confidence, is authoritative; any other is not so.'

52, 'The knowledge of the meaning of speech is verbally communicated knowledge; its instrumental cause is language.

53. 'Incorrect knowledge is of three sorts, through the divisions of Doubt, Mistake, and (such opinion as is open to) *Reductio ad absurdum.* The recognition, in one (and the same) thing possessing a certain nature, of several heterogeneous natures as characterising it, is Doubt. For example 'a post or a man.' Apprehending falsely is Mistake. For example, in the case of a shell, the idea of silver. *Reductio ad absurdum* consists in establishing the pervader through the allegation of the pervaded. For example, 'If there were not fire then there would be no smoke.

54. 'Memory also is of two kinds;—Correct and Incorrect. Correct memory is that which arises from correct knowledge. Incorrect memory is that which arises from incorrect knowledge.'

55. 'What all perceive to be agreeable, is Pleasure.'

56. 'What appears disagreeable, is Pain.'

57. 'Desire means wishing.'

58. 'Avertion means action.'

59. 'Effort means disliking.'

60. 'Merit arises from the performance of what is enjoined.'

61. 'But Demerit (arises) from the performance of what is forbidden.

62. 'The eight qualities—Understanding and the rest [Understanding, Pleasure, Pain, Desire Aversion, Effect, Merit and Demerit] are distinctive of soul alone.

63. 'Understanding, Desire and Effort are of two kinds;—Eternal and Transient. Eternal in God, and Transient in mortals.'

64. 'Faculty is of three kinds;—Momentum, Imagination, and Elasticity. Momentum resides in Earth, Water, Light and air and in Mind. Imagination the cause of memory, and arising from notion, resides only in the Soul. Elasticity is that which restores to its former position what had been altered, It resides in things like mats &c., formed of the earthy element.'

65. 'Action consists in motion. Throwing upwards is the cause of conjunction with a higher place. Throwing downwards is the cause of conjunction with a lower place. Contraction is the cause of conjunction with what is near the body. Expansion is the cause of conjunction with what is distant, Going is every other variety. Action resides only in Earth, Water, Light and Air and in Mind.'

66 'Genus is eternal, one, belonging to more than one, and residing in Substance, Quality and Action. It is of two kinds;—Higher and Lower. The higher Genus (the *summum genus*) is existence. The lower Genus is such a one as Substantiality.

67. 'Differences residing in eternal substances, are excluders.

68. 'Intimate relation is Co-inherence. It exists in things which cannot exist separately. Two things which cannot exist separately are

those of which the one exists only as lodged in the other. Such pairs are, parts and what is made up of the parts; qualities and things qualified, action and agent, species and individual, and difference and eternal substances.'

69. 'Antecedent non-existence is without beginning, and has no end. Such is the non-existence of an effect previous to its production. Destruction has a beginning, and has no end. (Such is the non-existence) of an effect subsequently to its production. Absolute non-existence is that of which the counter-entity is considered independently of the past, present and future. For example; there is not a jar on the ground. Mutual non-existence is that of which the counter-entity is considered with reference to the relation of identity. For example; a jar is not a web of cloth.'

70. 'Since every thing is properly included under the categories that have been now stated, it is established that there are only seven categories.'

'This Compendium of Logical results was composed by the learned Annam Bhatt, in order to perfect the acquaintance of students with the opinions of *Kanada* and of the *Nyaya*.'

परीक्षोपयोगी रघुवंश १-५ सर्ग

सँस्कृतटीका व भाषा और टिप्पणी। मूल्य डा.व्य.म. १)

जिनके सैकड़ों विद्यार्थी काशी और लाहौरकी मध्यम विशारद शास्त्रीआदि विविध परीक्षाओं में उत्तीर्ण होकर दशदिशाओं के व्याख्याता व अध्यापकहो राजे महाराजों में प्रतिष्ठा पारहे हैं ऐसे सुप्रसिद्ध विद्वद्वर मुरादावादीय जवाहरलाल संस्कृत पाठशाला मुख्याध्यापक पण्डित भवा-नीदत्त शास्त्रीजीने जोकि मल्लिनाथजी आदि टीकाकारोंनें भी नहीं लिखेथे ऐसे संस्कृतटीकेमें अन्वय मुख सुगम पदपर्यायों की रचना कीहै तथा वैजनाथ शास्त्री ने उनकी संक्षिप्त भाषा तथा नीचे टिप्पणी निर्माण की है इस टिप्पणीमें परी-क्षोपयोगी व्याकरण के सूत्रोंसे कठिन पदों की सिद्धि तथा कोष काव्य छन्द आदि प्रमाणों को विस्तार से लिखा है। वस-हे विद्यार्थियों ! अवश्य परीक्षा में उत्तीर्ण होने की इच्छा तो शीघ्र पुस्तक मंगवाय परीक्षा पास क मुम्बई के टाइपमें छपी है कागजभी है तथा उत्तम कपड़ेकी जिल्द इसपर न्थका डा·व्य·स· मूल्य १)रु०मात्रहै।

... तुम चाहतेहो करो पुस्त हितवाद़िया अमूल्यग्र

परीक्षोपयोगी

लघुसिद्धान्त कौमुदी

मूल और भाषाटीका सहित मूल्य डा॰व्य॰स॰ १।) रु०

इस में सब सूत्रों के क्रमशः गणनाङ्क। पुनः सूत्रों के प्रथमादि पद। तदनु वृत्तिकीभाषा इस भाषामें इसप्रकारसे प्रयोग सिद्धि करी है कि इस के देखतेही देखते भाषा के जाननेवाले विद्यार्थीभी बिना गुरुसे पढ़े थोड़ाही परिश्रम करने से भलीभांति लघुसिद्धान्त कौमुदी के सम्पूर्ण आशयको जानकर अवश्य परीक्षा में उत्तीर्णता का लाभ उठासक्ते हैं यह पुस्तक कईप्रकारके नवीन टाइपके अक्षरों में छापीगई है कागजभी बहुत बढ़िया है। पुस्तक बड़ीहोने परभी डा॰व्य सहित निर्धन विद्यार्थियों के लिये मूल्य केवल १।) रुपया मात्रही रक्खाहै। यह पुस्तक इत सस्ती और जगह नहीं मिलसकैगी ॥

पता-बैजनाथशास्त्री व रामकृष्ण

तन्त्रप्रभाकर प्रेस मुरादा